प्रकाशकीय

पुस्तक की लेखिका से हिन्दी के पाठक भलीभांति परिचित हैं। कुछ वर्ष पूर्व उनकी पुस्तक 'बोलती तस्वीरें' मण्डल से प्रकाशित हुई थी। उस पुस्तक की मर्मस्पर्शी गाथाओं को जिन्होंने पढ़ा था, उन्हें रोमांच हो आया था। वे मात्र गाथाएं नहीं थीं, जेल-जीवन के ऐसे सजीव चित्र थे जो कठोर-से-कठोर हृदय को भी हिला देते हैं। उन संस्मरणों के माध्यम से लेखिका ने बताया था कि अधिकांश व्यक्ति स्वेच्छा से अपराध नहीं करते, परिस्थितियां उन्हें वैसा करने के लिए मजबूर कर देती हैं। मानव-जीवन की जिन यथार्थताओं को कानून देख तथा स्वीकार नहीं कर पाता, उनका दर्शन लेखिका ने अपनी पुस्तक में कराया था। उनकी दूसरी पुस्तक 'कोई शिकायत नहीं' भी आपकी निगाहों से गुज़री होगी, जो लेखिका की 'आत्मकथा' है।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखिका ने अपनी यशस्वी भतीजी, भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के जीवन की प्रभावशाली झांकी उपस्थित की है। इसे पढ़कर मालूम होता है कि इन्दिराजी बचपन से ही कितनी निर्भीक तथा हौसले वाली थीं। यद्यपि वह बड़े घराने में उत्पन्न हुई, लाड़-प्यार तथा वैभव के बीच पलीं, तथापि उन्होंने जीवन को कभी फूलों की सेज नहीं माना। उनके होश संभालने के पूर्व ही भारत का स्वाधीनता-संग्राम आरंभ हो गया था और ज्यों ही देश की पुकार उनके कानों में पड़ी कि वह मैदान में आ गईं। उस संग्राम में उन्होंने क्या भूमिका अदा की, कैसे-कैसे उतार-चढ़ावों में से गुज़रीं, सुख-समृद्धि की गोद में खेलते उनके नेहरू-परिवार ने किस प्रकार राष्ट्र-सेवा के कठोर मार्ग को अपनाया, इसका बड़ा ही सजीव चित्रण इस पुस्तक में हुआ है। कहानी यहीं समाप्त नहीं होती। भारत स्वतन्त्रता के अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। उस समय से लेकर सन् १९६७ के आम चुनाव तक की राष्ट्रीय उपलब्धियों में नेहरू-परिवार तथा इन्दिराजी के

योगदान का विशद वर्णन भी इसमें पढ़ने को मिलता है। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अब तक इन्दिराजी के संबंध में जितना साहित्य प्रकाशित हुआ है, उसमें इस पुस्तक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चूंकि लेखिका स्वयं इस घटना-चक्र की साक्षी रही हैं, इसलिए उनके विवरण जहां प्रामाणिक हैं, वहां बड़े ही रोचक तथा सरस भी हैं। पुस्तक को पढ़ने में उपन्यास का-सा आनन्द आता है।

पुस्तक के लेखन के पीछे बड़ी ही मार्मिक कहानी है जिसका उल्लेख लेखिका के पति श्री राजा हठीसिंग ने अपने प्राक्कथन में किया है। हमें दुःख है कि पुस्तिक लेखिका के जीवन-काल में प्रकाशित न हो सकी।

मूल पुस्तक का प्रकाशन न्यूयार्क की विख्यात प्रकाशन-संस्था मैकमिलन कम्पनी की ओर से हुआ है। हिन्दी में इसके प्रकाशन की अनुमति देने के लिए हम प्रकाशक तथा श्री राजा हठीसिंग के आभारी हैं।

पुस्तक सन् १९६७ के आम चुनावों के संपन्न होने के बाद समाप्त हो जाती है। उसके पश्चात् तो हमारे देश में बहुत-कुछ हुआ है और उसमें इदिराजी ने जो ऐतिहासिक पार्ट अदा किया है उस सबका संक्षिप्त वर्णन पुस्तक के अनुवादक श्री श्यामू संन्यासी ने एक अध्याय में कर दिया है, जिसे परिशिष्ट **'ताजा कलम'** के रूप में दिया गया है। पुस्तक को बनाने के लिए हम श्री श्यामू संन्यासी को भी धन्यवाद देते हैं।

हम चाहते हैं कि आज जिनके हाथ में भारत के शासन की बागडोर है और जिन्होंने अपने अपूर्व बुद्धि-कौशल, सूझबूझ, अध्यवसाय आदि से देश को निराला नेतृत्व प्रदान किया है, उनके जीवन की अंतरंग झांकी को पाठक देखें और उससे प्रेरणा लें। हमें पूरा विश्वास है कि यह पुस्तक सभी क्षेत्रों में चाव से पढ़ी जायगी।

—मन्त्री

प्राक्कथन

मेरी पत्नी का लन्दन में स्वर्गवास हुए अब तो छः महीने हो गए। घर पहुँचने और इस किताब को पूरा करने के लिए आतुर वह अमरीका से लौट रही थी। १९६७ की गर्मियों-भर उसकी तबीयत खराब रही, लेकिन उस वक्त की डाक्टरी जांच-पड़ताल में दिल की खराबी की कोई बात मालूम नहीं हो पाई थी। उसकी पुस्तक 'हम नेहरू' (वी नेहरूज़) के विमोचन-समारोह पर, अमरीका आने का उसके न्यूयार्क के प्रकाशक का निमन्त्रण मैंने इस आशा से स्वीकार कर लेने का आग्रह किया था कि बाहर जाने से उसका बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य जल्दी अच्छा हो जायगा।

अमरीका में जैसे ही बेशुमार रेडियो और टेलीविज़न-प्रसारणों का काम खत्म हुआ, वह घर लौटने के लिए उतावली हो उठी। मन तो उसका यहां, इस किताब को जल्दी-से-जल्दी पूरा करने में, लगा हुआ था। लेकिन मैं बराबर आग्रह करता रहा कि ऐसी क्या जल्दी है, थोड़े दिन वहीं आराम कर लो। अमरीका के अपने विशाल मित्र-समुदाय से विदा होते समय सम्भवतः मृत्यु के पूर्वाभास ने ही उससे इस बार कहलवाया था कि यह अन्तिम मिलन है, अब उसका आना न होगा। बार-बार आग्रह करने के कारण वह मुझसे नाराज़ भी हो गई थी और अन्त में झुंझलाकर उसने लिखा था, "अच्छा, तुम्हारी यही ज़िद है तो और दस दिन यहां पड़ी रहूँगी।" तब क्या पता था कि कौन-सी अन्तःप्रेरणा उसे मेरे पास घर लौटने को विवश कर रही थी!

और वह घर न आई। नवम्बर की ९ तारीख को, लन्दन में, बड़े सवेरे भारत की ओर आनेवाला जहाज पकड़ने के लिए वह हवाई अड्डे जाने की तैयारियां कर ही रही थी कि एकाएक दिल का दौरा पड़ा और उसका वहीं तत्काल प्राणान्त हो गया—बिलकुल अकेले और असहाय! मैं रुक जाने का बराबर आग्रह करता रहा, इसके लिए कभी अपने-आप-को माफ नहीं कर सकूंगा। अगर वह जल्दी लौट आती, जैसाकि चाहती

थी तो दौरे के समय सार-संभाल और सहायता के लिए मैं उसके पास होता, और हो सकता है कि असमय की एकाकी मौत से उसे बचा भी लेता; और कुछ न कर पाता तो चिरविदा के उस अन्तिम क्षण हम दोनों साथ तो रहते। लेकिन उसके निर्जीव ठण्डे हाथ को थामकर, रुंधे गले से, अपने प्रेम की गुहार करते रह जाना ही, मुझे नसीब हो सका। उसके प्राण-पुलकित हाथ का ऊष्माभरा कोमल स्पर्श मुझे न मिला, और वे मुस्कराती आंखें तो हमेशा के लिए मुंद चुकी थीं।

कृष्णा अपने परिवार को बहुत ज्यादा प्यार करती थी। भाई, बहन, भतीजी इन्दिरा, अपने दो बेटे और पति—यही उसकी दुनिया थी, और उसका यह परिवार भारत के स्वाधीनता-संग्राम के साथ अटूट रूप से जुड़ा हुआ था, इसलिए कृष्णा को अपने देश से भी बहुत प्यार था। स्वतंत्रता के बाद जवाहरलाल नेहरू की सभी नीतियों से सहमत न हो पाने के कारण मैं कांग्रेस पार्टी से अलग हो गया। यह उसके लिए परेशानी का कारण हो गया। भाई और पति के रास्ते अलग-अलग हो जाने के कारण, कई बार ऐसे मौके आते कि वह खासे धर्म-संकट में पड़ जाती और उसके दुःख-क्षोभ की सीमा न रहती। शायद मेरे विरोध और खुली आलोचना के कारण ही उसे वह मान्यता न मिल पाई, जिसकी वह वस्तुतः अधिकारी थी। जैसाकि एक मित्र ने लिखा है, समूचे नेहरू-परिवार में अकेली वही थी जो पद और सत्ता से हमेशा दूर रही। सहज और सरल, ईमानदार और निष्ठावान् तो वह थी ही, नेहरू-वंश का परम्परागत प्रख्यात गुण, अथक परिश्रमशीलता, भी उसमें कूट-कूटकर भरा था।

बरसों पहले, १९४२ में, जब मैं जेल गया तो वह घर पर अकेली रह गई। मेरे अनुरोध पर उसने तत्कालीन 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में प्रकट रूप से सक्रिय भाग नहीं लिया और हमारे दोनों छोटे-छोटे बच्चों की देखभाल के लिए बाहर रहना स्वीकार किया। वास्तव में अपने नन्हे-मुन्नों के स्नेह के ही कारण उसने मेरा अनुरोध शिरोधार्य किया था। जेल में से मैंने उसे अपना अकेलापन बहलाने के लिए लिखने की सलाह दी। वह बड़ी ही सम्भाषण-पटु थी और अपनी बातचीत में लोगों के बारे में रोचक

घटनाओं के दफ्तर-पर-दफ्तर खोलती चली जाती। उसके लिए यादें दिसम्बर के गुलाब के फूलों की तरह थीं', जो पिता के स्नेह-प्रेम की सुगन्ध से उसके मन-प्राणों को आप्लावित कर देती थीं—उस पिता के, जिन्हें वह सबसे अधिक चाहती और मानती रही थी। वह जिन्दादिल, खुशमिजाज़ और उत्साह-उमंग से परिपूर्ण थी।

लिखने के ढंग के बारे में मेरा सुझाव था कि इस तरह लिखो मानो बातचीत कर रही हो, और बाद में तमाम लिखी हुई घटनाओं को संकलित करके उनका अच्छी तरह सम्पादन कर डालो। इस तरह उसकी पहली किताब 'कोई शिकायत नहीं' (विद नो रिग्रेट्स) का लिखा जाना शुरू हुआ। इस किताब के कच्चे लेख मेरे पास जेल में सम्मति और सुझाव के लिए आते रहे। लौटाते समय मैं याद दिलाता कि अमुक घटना जो तुमने मुझे सुनाई थी, छूट गई है, उसे भी इसमें जोड़ लो। 'कोई शिकायत नहीं' संस्मरणों की बड़ी ही सुन्दर और प्यारी पुस्तक है। प्रकाशित होते ही वह हाथोंहाथ उठा ली गई और खूब सराही गई। जेल से जवाहर ने लिखा, "बड़ी ही खूबसूरत और प्यारी किताब है...बिलकुल तुम्हारी ही तरह सहज, ईमानदार, बेलाग और दोस्ताना!" एक अंग्रेज़ समालोचक ने उसके बारे में अपनी राय दी है, "गहन देश-प्रेम, परन्तु कट्टरता या हठधर्मी का नाम भी नहीं,...नारी-सुलभ कोमलता (दया-ममता) एवं व्यथा-पीड़ा के प्रति गहन अनुभूति-प्रवणता सर्वत्र विद्यमान है।"

उसके बाद उसने कई किताबें लिखीं; लेकिन प्रस्तुत पुस्तक को पूरा करने की जितनी चिन्ता उसे रही, वह किसी और पुस्तक के समय दिखाई न दी। इन्दिरा के प्रति उसका प्रेम बहुत गहन और उत्कट था। अपनी भतीजी पर वह जान देती थी और हमेशा उसे उसने अपनी बेटी ही समझा।

कृष्णा के पार्थिव शरीर के समक्ष मैंने संकल्प किया था कि प्रस्तुत पुस्तक की समाप्तप्राय पांडुलिपि पर स्वयं काम करके उसकी अंतिम इच्छा को पूरा करूंगा। वह अपने पीछे ढेर-सारे लिखे हुए काग़ज़-पत्तर, टिप्पणियां और मसविदे छोड़ गई थी। पूरे दो सूटकेस काग़ज़ों से भरे

हुए थे। मेरे लिए करने को सिर्फ इतना ही बचा था कि उसकी टिप्पणियों का अनुसरण करते हुए तमाम लिखे हुए को सिलसिले से लगाकर पूरी सामग्री का सम्पादन कर दूं।

शुरू के दिनों में तो उदासी और एकाकीपन मुझपर बुरी तरह हावी रहे, परन्तु धीरे-धीरे मैं इस ओर प्रवृत्त हुआ और उसके काम में जुट गया। उसकी मृत्यु के बाद हमारा प्यारा घर मेरा समाधि-मन्दिर बन गया है, जहां उसके मधुर स्वर की अनुगूंज और प्राणप्रद तेजस्विता प्रतिक्षण मुझे अनुप्राणित और मेरा अनुसरण तथा पथ-प्रदर्शन करती रहती है। पांडुलिपि का टंकन करते समय मुझे बराबर यही लगता रहा मानो वह मेरे पास बैठी है। आशा करता हूं कि उसके मौन निर्देशों को समझने में मुझसे कहीं कोई भूल या भ्रान्ति नहीं हुई है। कभी मैं कहा करता था, "आंख ओट, मन की ओट।" लेकिन आज तो मैं केवल स्मृतियों के ही सहारे जीवित हूं।

—राजा हठीसिंग

विषय-सूची

●

चित्र-सूची

(पृष्ठ १५६ से आगे)

प्रारम्भ में : इंदिरा (एक अध्ययन)

●

प्रधानमन्त्री

१

अल्लाह का फ़ज़ल

•

मेरे भाई जवाहरलाल नेहरू की शादी सोलह बरस की बहुत ही खूबसूरत कमला कौल के साथ, दुलहिन के नैहर, दिल्ली में १६१६ के मार्च महीने में हुई। शादी में शरीक होने के लिए सारे भारत से जो मेहमान आये उनके स्वागत-सत्कार के लिए कई शाही शामियाने लगाये गए, जिनमें ईरानी कालीन और काश्मीरी गलीचे बिछाये गए और सेवा-टहल के लिए ज़री-मखमल की भड़कीली वर्दियों में लकदक नौकर-टहलुओं की पूरी फौज तैनात थी। उस शादी में खूब शान-शौकत और धूम-धाम रही। बारात दस दिन दुलहिन के यहां ठहरी और हर दिन आनन्दोत्सव होता रहा। फिर जवाहर और कमला विदा होकर इलाहाबाद हमारे घर आनन्द भवन में रहने आ गए। आनन्द भवन कई कमरोंवाली विशाल कोठी थी, जिसमें उन दिनों नेहरू-परिवार की तीन पीढ़ियां एक साथ रहती थीं।

कमला और जवाहर की एकमात्र सन्तान—इन्दिरा का जन्म १६ नवम्बर, १६१७ को हुआ। उस रात आनन्द भवन

को खूब दीयों से सजाया गया था। लोगों की चहल-पहल से सारा मकान गुलजार हो उठा था। मेहमानों के सत्कार में जुटे नौकर भाग-भागकर महिलाओं को शर्बत और पुरुषों को स्कॉच और सोडा थमा रहे थे। उस दिन दादा बनने की खुशी में—उनके प्राणप्यारे जवाहर के बच्चा जो होने जा रहा था—पिताजी को खयाल ही नहीं रहा, वर्ना वह अवसर के उपयुक्त शैम्पेन की दावत जरूर रखते, ज़ैसाकि उन्होंने कुछ दिनों बाद किया।

मैं दस बरस की थी। मैं जानती थी कि कमला के बच्चा होनेवाला है। कई डाक्टर और नर्सें उनकी तीमारदारी में जुटी हुई थीं। मैं सौरीघर के करीब रहना चाहती थी, लेकिन मेरी गवर्नेस मिस हूपर ने (जिन्हें हम टूपी कहते थे, क्योंकि मैं उनके नाम का उच्चारण नहीं कर पाती थी) मना कर दिया था। तब मैं आंगन के पार बाहर बरामदे में चली आई, जहां से पिताजी चहल-कदमी करते दिखाई दे रहे थे। अम्मां एक दीवान पर अपनी बड़ी बहन (हमारी मौसी) बीबी अम्मां के साथ बैठी थीं और दूसरी बहुत-सी औरतें उनके पास खड़ी थीं—सब-की-सब होनेवाले बच्चे की प्रतीक्षा में उत्सुक और व्यग्र।

मेरे भाई अकेले और अलग-थलग इस तरह खड़े थे, मानो उस सारे शोर-शराबे से उन्हें कोई सरोकार न हो। मगर वास्तव में वह दबी निगाहों से अक्सर उस बन्द दरवाज़े की ओर देख लेते थे, जिसके पीछे उनकी पत्नी प्रसव की पीड़ा भोग रही थी।

उन दिनों भारत में नई बहू का पहली जच्चगी के लिए अपने माता-पिता के घर जाने का रिवाज था (यह रिवाज

आज भी है, मगर उतना रूढ़ नहीं)। इस रस्म के पीछे खयाल यह था कि नैहर में, जहां वह छोटे से बड़ी हुई, उसे अधिक आराम मिलेगा और उतना संकोच भी नहीं होगा जितना ससुराल में, सास-ननद और जेठानी-देवरानी के बीच, जिन्हें वह शादी के बाद से ही जानने लगी होती है। मगर पिताजी का आग्रह था कि हमारी लाड़ली बहू की पहलौठी हमारे घर पर ही हो। हम खुद सारे इन्तज़ाम की देखभाल कर सकेंगे और मुल्क के बेहतरीन डाक्टर और नर्सें और नई-से-नई चिकित्सा-सुविधाएं मुहैय्या की जा सकेंगी। इसलिए कमला आनन्द भवन में ही रहीं।

काफी देर के बाद, मुझे लगा, जैसे बरसों बीत गए हों। डाक्टर लोग बाहर आये। आंगन के पार भागती हुई मैं वहां ठीक समय पर पहुंच गई थी, क्योंकि प्रसव करानेवाला स्काटिश डाक्टर भाई से कह रहा था, "श्रीमान्जी, इतनी-सी मुनिया बेटी है।"

सुनते ही अम्मां के मुंह से निकला, "अरे, होना तो लड़का चाहिए था!" वह चाहती थीं कि उनके इकलौते लाल के घर लड़का हो। अम्मां की बात सुनते ही पास-पड़ोस में खड़ी महिलाओं के चेहरे लटक गए। अम्मां का इस तरह जी छोटा करना पिताजी को जरा भी न सुहाया। वह झुंझला उठे और लगे झिड़कने, "खबरदार, ऐसी बात मुंह से निकाली तो! कभी ऐसा खयाल भी मन में नहीं लाना चाहिए। क्या हमने कभी अपने बेटे और बेटियों में कोई फर्क किया है? क्या तुम सभी-से एक-जैसी मुहब्बत नहीं करतीं? देखना तो सही, जवाहर की यह बेटी हजारों बेटों से सवाई होगी।" वह मारे गुस्से

के पांव पटकते हुए वहां से चले गए। अम्मां ने चुपचाप सिर झुका लिया। अपने पति की झिड़की के कारण वह बुरी तरह सिटपिटा गई थीं।

पिताजी ने बच्ची का नाम, अपनी मां के नाम पर, इन्दिरा रखा। मेरी दादी बड़ी ही दबंग और दृढ़ इच्छा-शक्तिवाली महिला थीं। अपनी बात का विरोध उन्हें ज़रा-भी बर्दाश्त नहीं था, यहांतक कि पिताजी की भी उनका कहा टालने की हिम्मत न होती थी। जवाहर और कमला अपनी बेटी का नाम 'प्रियदर्शिनी' रखना चाहते थे। इसका मतलब होता है देखने में प्रिय, और इसलिए उसका नाम इन्दिरा प्रियदर्शिनी रखा गया। वास्तव में वह प्रियदर्शिनी है, हम सबकी प्यारी और पूरे भारत देश की भी प्रिय।

बच्ची का जन्म हुआ, तो मैं खुशी से फूली न समाई। वह बहुत नन्ही-मुन्नी, पर शुरू से ही सुडौल थी—बड़ी-बड़ी आंखें और सिर पर घने काले बाल। उम्र के साथ हम दोनों के पारस्परिक स्नेह-दुलार, समझ और सम्मान-भावना में वृद्धि होती गई।

इन्दिरा कुछ ही दिन की हो पाई थी कि पिताजी ने उसे हमारे घर के खास इन्तज़ामकार मुन्शीजी के पास ले चलने का प्रस्ताव किया। ये बुज़ुर्गवार पिताजी के सबसे बड़े और भरोसे के मुन्शी थे। उनके मातहत घर के पचास नौकर, अस्तबल के बाईस घोड़े और अट्ठारह-बीस कुत्ते थे, जिनमें कुछ शिकारी, कुछ पहरुए और बाकी योंही पालतू थे। मुन्शीजी हमारे ही अहाते की एक बंगलिया में अपनी बीवी और बेटे के साथ रहते थे।

परिवार में उनका वही रुतबा और इज्जत थी जो एक दाना बुजुर्ग की होती है। हम बच्चों के वह प्यारे, मृदुभाषी और मेहरबान चाचा थे, परन्तु मौका पड़ने पर सख्ती से पेश आना भी खूब जानते थे। गर्मियों के मौसम में, रात के समय मैं और मेरे चचेरे भाई-बहन उन्हें घेरकर बैठ जाते और पुराने जमाने के वीर-वीरांगनाओं की कहानियां सुनते। कहानियों के वे लोग कितने बहादुर होते थे—इतने बहादुर कि उनपर यकीन हो न हो सके। मुंशीजी के पास कहानियों का अखूट खजाना ही था—हर कहानी एक-एक से बढ़कर और जोशीली; हरेक साहस, सचाई और वीरता की शिक्षा से ओतप्रोत, जिसे हमारे मन पर अंकित करना मुन्शीजी कभी न भूलते और हम सब बच्चे दम साधे चुपचाप सुना करते।

इन्दिरा के जन्म से कुछ समय पहले मुन्शीजी को कैन्सर की खतरनाक बीमारी लग गई थी। पिताजी ने उनके इलाज में कोई कसर न छोड़ी। विशेषज्ञों को दिखलाया, उनसे सलाह-मशविरा किया और बढ़िया-से-बढ़िया दवा-दारू का इन्तज़ाम किया। हर शाम हाईकोर्ट से घर लौटते समय वह एक बार उनकी बंगलिया में जरूर जाते, चाहे कुछ मिनटों के ही लिए क्यों न हो! अम्मां तो दिन में कई-कई बार जातीं और कमला भी।

डाक्टरों को इस बात की हिदायत कर दी गई थी कि रोगी को रोग की भीषणता के बारे में भूलकर भी न बतायें, मगर मुन्शीजी को जाने कैसे पता चल गया था कि अब वह अच्छे न होंगे। एक दिन पिताजी उन्हें देखने गए, तो वह असह्य पीड़ा से छटपटा रहे थे। पिताजी को घबड़ाते देख मुन्शीजी

ने बड़ी हिम्मत के साथ मुस्कराते हुए कहा, "भाई साहब, आप कतई फिक्रमन्द न हों। जवाहरलाल की औलाद को अपनी गोद में लेकर दुआ देने के बाद ही मैं मरूंगा, उसके पहले नहीं। उसी मुबारक दिन के लिए तो जी रहा हूं।"

और आखिर वह 'मुबारक दिन' भी आया। एक कीमती काश्मीरी शाल में लपेटकर दाई इन्दिरा को अम्मां और बीबी-अम्मां के साथ मुन्शीजी के पास ले चली। ठीक उसी वक्त पिताजी भी उनकी बंगलिया में पहुंचे।

ज्योंही लाल-गुलाल गोरी बालिका मुन्शीजी के फैले हुए हाथों में दी गई, उन बुजुर्गवार की खुशी का पार न रहा। जब सिर उठाकर उन्होंने मेरे माता-पिता को वात्सल्यभरे स्वर में बधाई दी, तो आंखों से स्नेह के आंसू उनकी सफेद दाढ़ी पर ढुलक रहे थे। उन्होंने कहा, "मुबारक हो, भाई और भाभी साहेबा! अल्लाह का फ़ज़ल हो इस बच्चे पर। दुआ करता हूं कि जिस तरह हम सबके प्यारे जवाहर ने आपकी शान में इजाफा किया, उसी तरह यह भी अपने वालिद और नेहरू-खानदान का नाम रोशन करे।"

मुन्शीजी को बता दिया गया था कि जिस बच्चे को वह दुआ दे रहे हैं, वह लड़की है, फिर भी वह उसे मोतीलाल नेहरू का पोता मानकर ही असीसते, बलाएं लेते और दुआएं देते रहे।

२

कुलीन वंश

•

हम काश्मीरी ब्राह्मण हैं। हमारे पूर्वपुरुष राज कौल (कमला कौल के परिवार से भिन्न) मुगल बादशाह फर्रुख-सियर के दरबार में काश्मीर से आये थे। फर्रुखसियर उनकी विद्वत्ता से बहुत प्रभावित था। उसने उन्हें दिल्ली में एक नहर के किनारे रहने के लिए मकान भेंट किया था। नहर के किनारे रहने के कारण हमारा परिवार दिल्ली में कौल-नहर के नाम से मशहूर हुआ। कालान्तर में कौल-नहर का कौल-नेहरू हो गया और समय के साथ कौल हटकर सिर्फ नेहरू बचा और यों हम नेहरू कहलाने लगे।

मेरे परदादा लक्ष्मीनारायण नेहरू ईस्ट इण्डिया कम्पनी के दरबार में अन्तिम मुगल सम्राट् के वकील थे, लेकिन १८५७ के विद्रोह में उनके बेटे के परिवार की सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गई और उन लोगों को बहुत-से शरणार्थियों के साथ दिल्ली से भागना पड़ा। सुरक्षा की खोज में आगरा की ओर बढ़ते हुए मेरे एक बाबा और उनकी छोटी बहन अकस्मात् फिरंगी सैनिकों के चंगुल में फंस गए। काश्मीरी लोग आम-

तौर पर बहुत गोरे होते हैं, इसलिए फिरंगी सैनिकों को यह भ्रम हो गया कि नन्ही लड़की अंग्रेज़ है और बाबा उसे भगाये लिये जा रहे हैं। वह फांसी पर चढ़ा ही दिये जाते, लेकिन भाग्य से अंग्रेज़ी भाषा का ज्ञान काम आया और जान बच गई।

मेरे दादा गंगाधर नेहरू आगरा में बस गए। उनके तीन लड़के थे—सबसे बड़े बंशीधर, जिन्होंने ब्रिटिश शासन-काल में न्याय विभाग में महत्त्वपूर्ण पदों पर काम किया। नौकरी में स्थानान्तर होते रहने के कारण पारिवारिक जिम्मेदारियों को निभाना उनके लिए सम्भव नहीं था। दूसरे बेटे नन्दलाल राजस्थान में खेतड़ी रियासत के दीवान थे। उन्हीं दिनों उनके छोटे भाई मोतीलाल का जन्म हुआ।

मेरे पिता मोतीलाल नेहरू का जन्म ६ मई, १८६१ को हुआ। दादा गंगाधरजी को अपने सबसे छोटे बेटे का मुंह देखना नसीब न हुआ—पिताजी के जन्म के तीन महीने पहले ही उनकी मृत्यु हो गई थी। पिताजी का लालन-पालन मेरे छोटे ताऊ नन्दलालजी ने ही किया। जन्म से ही पिताजी, उम्र में अपने से बहुत बड़े भाई के पास रहे और ठाठ से रहने का शौक भी शायद वहीं, खेतड़ी के राजा के दरबार में रहने के कारण पड़ा। दादी उन्हें बहुत चाहतीं और सिर चढ़ाये रहतीं। ऐसे में बच्चे का ज़िद्दी और गुस्सैल होना स्वाभाविक है। पिताजी भी बचपन में बहुत गुस्सैल थे। यह चारित्रिक विशेषता नेहरूओं में परम्परागत है, क्योंकि अपनी तेज़मिजाजी के लिए हम सभी नेहरू प्रसिद्ध हैं।

खेतड़ी रियासत में दस बरस दीवानगिरी करने के बाद

नन्दलाल कानून पढ़ने के लिए आगरा लौट आये और पढ़ाई खत्म कर हाईकोर्ट में वकालत करने लगे। जब वहां से उठकर अदालत इलाहाबाद चली आई तो यह पुरातन नगर नेहरू-परिवार का घर बन गया।

पिताजी की स्कूली शिक्षा कानपुर में हुई। जब इलाहाबाद कालेज में पढ़ते थे, तो शरारती लड़कों की जमात के बराबर अगुआ बने रहे। लेकिन कानून की पढ़ाई मन लगाकर की और बहुत अच्छे नम्बरों से पास हुए। उन्हें शुरू से ही पश्चिमी तौर-तरीके और यूरोपीय वेशभूषा बहुत पसन्द थी, जिन्हें उस जमाने के अधिकांश भारतीय अच्छा नहीं समझते थे। वकालत का पेशा उन्होंने कानपुर की जिला कचहरी में तीन बरस की उम्मीदवारी के रूप में शुरू किया, और फिर इलाहाबाद आकर हाईकोर्ट में प्रैक्टिस करने लगे। इसके कुछ ही दिनों बाद उन्होंने सत्रह बरस की स्वरूपरानी टुस्सू (या तुस्सू) से शादी की, जो बहुत ही सुन्दर, सुशील और गुणवती थीं।

जब नन्दलालजी की मृत्यु हो गई, तो उनकी विधवा पत्नी, पांच बेटों और दो कन्याओं के भरण-पोषण का भार पिताजी ने बड़ी तत्परता से उठाया। वह अपने भतीजों और भतीजियों को उतनी ही ऊंची शिक्षा देना और अच्छे काम-धन्धे से लगाकर व्यवस्थित कर देना चाहते थे, जैसा नन्दलालजी ने उनके लिए किया था। इस इच्छा से प्रेरित होकर वह कमाने में जुट गए। कड़े परिश्रम और सूझ-बूझ के कारण वकालत का उनका पेशा दिनोंदिन तरक्की करता गया।

१८८९ में, जिस वर्ष जवाहर का जन्म हुआ, पिताजी

उतने सम्पन्न नहीं थे और शहर के अन्दर पक्के मुहाल में रहते थे। १८९० के वाद के वर्षों में आमदनी वढ़ी और वह सिविल लाइन्स में रहने चले आये, जहां यूरोपियन और यूरेशियन लोग रहते थे। पिताजी की कानून की पकड़ वहुत अच्छी थी और वह मेहनत भी डटकर करते थे, इसलिए आमदनी भी खूव होने लगी। विरासत-सम्वन्धी हिन्दू कानून का उनका ज्ञान अद्भुत था और लाखन रियासत के उत्तराधिकारवाले एक मुकदमे में ही उन्हें वहुत-सा रुपया मिला था।

१९०० में मेरी वहन स्वरूप का जन्म हुआ। उसका पुकारने का नाम 'नान' रखा गया, जो नन्ही का छोटा रूप है। उसी साल पिताजी ने एक वहुत वड़ी, पुरानी और शानदार कोठी खरीदी, जिसके अन्दर काफी लम्वा-चौड़ा दालान था। पिताजी ने इस कोठी का नया नाम रखा 'आनन्द भवन' और इसे अपनी रुचि के अनुसार आवश्यक परिवर्तन-परिवर्धन कर सजाया-संवारा और अपने वड़े परिवार के साथ उसमें सुखपूर्वक रहने लगे।

वरामदों से, कोठी के चारों ओर अहाते में, वागीचे की वहार देखते ही वनती थी। ऊंचे-ऊंचे जैक टैंडा वृक्ष अपनी नील-पुष्प-गुच्छ-मंडित फुनगियां साधे झूमते रहते, उनके नीचे ग्लेडियोलस, नरगिस, स्वीटपीज़ और गुलाव के रंग-विरंगे फूलों की सुगन्धभरी प्रचुरता मन को मोहित करती रहती; लम्बे, समतल, हरियाले लानों में गुलमोहर के चटक लाल-पीले-नारंगी फूलों के वेलवूटों की नयनाभिराम छटा का अलग ही मज़ा रहता; और रंग-विरंगे डैनोंवाले तोते, मैना, ठठेरे

(छोटा बसन्ता) आदि सैकड़ों पक्षी अपने मधुर कलरव से बागीचे को गुंजाते और उसकी शोभावृद्धि किया करते थे।

मेरे बचपन में पिताजी की वकालत अपनी चरम सीमा पर थी और वह खर्च भी जी खोलकर करते थे। जरूरत के समय के लिए बचाकर रखने में उनकी कोई रुचि नहीं थी। कहते थे, जब जी चाहेगा और जितनी भी जरूरत होगी, कमा लेंगे। वह लोगों का शानदार स्वागत-सत्कार और ठाठ-दार दावतें करते थे। उस जमाने के फैशन के अनुसार विक्टो-रियन साज-सामान से सज्जित उनका शाही दीवानखाना देश-विदेश के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से भरा रहता था, जिनमें नामी वकील, प्रसिद्ध कलाकार, चोटी के खिलाड़ी और पिताजी के मुवक्किल राजा-महाराजा भी होते थे। खाने की मेज़ पर बिल्लौरी कांच और बढ़िया चीनी मिट्टी के बरतनों में मेह-मानों को भोजन परोसा जाता और ताज़े सुगन्धित फूलों के फूलदान सजाये जाते। सभी तरह के देशी-विदेशी मेहमानों को उनकी रुचि की बढ़िया-से-बढ़िया शराबें पेश की जातीं। कहीं गम्भीर चर्चाएं होतीं, कहीं हँसी-मज़ाक और लतीफा-गोई, और सबके ऊपर पिताजी के प्रसन्न ठहाके गूंजते रहते, जो दूसरों को भी बरबस हँसने-खिलखिलाने के लिए प्रेरित कर देते थे। इन सब कारणों से उन दिनों हमारा घर सामा-जिक जीवन का केन्द्र ही बन गया था।

उन दिनों पिताजी वकालत में इतना नाम और धन कमाने में लगे थे कि भारतीय राजनीति की ओर ध्यान देने को न उनके पास समय था और न रुचि। पहले, अपनी बीसी-पचीसी में, उन्होंने राष्ट्रीय कांग्रेस की कुछ बैठकों में भाग

लिया था, लेकिन वहां उनका मन रमा नहीं।

राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना १८८५ में एलन ह्यूम नामक एक अंग्रेज़ आई० सी० एस० ने की थी। बाद में इस संस्था को लार्ड कर्ज़न का आशीर्वाद प्राप्त हुआ, जो १८९९ में भारत का वाइसराय बना। उसकी राय में भारत की जनता के असन्तोष को व्यक्त करने का यह संस्था एक बढ़िया माध्यम थी। भारत के अंग्रेज़ी बोलने-समझनेवाले मध्यमवर्ग के लोगों को यह संस्था बहुत पसन्द आई। मेरे पिताजी ने १८८८ और १८९२ में इसकी बैठकों में प्रतिनिधि के रूप में हिस्सा लिया और १९०२ में उसकी कार्यसमिति के सदस्य बन गए। उन दिनों कांग्रेस हर साल एक जलसा करने और छोटी-मोटी शिकायतों की ओर ब्रिटिश सरकार का ध्यान आकर्षित करनेवाले कुछ प्रस्ताव पास करने और प्रार्थना-पत्र भेजने से अधिक कुछ नहीं करती थी। १९०५ में लार्ड कर्ज़न ने प्रशासकीय सुविधा के लिए बंगाल के सूबे को दो हिस्सों में बांटने की घोषणा की, तबतक पिताजी ने भी कांग्रेस के काम में नरम प्रस्ताव पास करने और प्रार्थना-पत्र भेजने से अधिक कोई रुचि नहीं दिखाई। बंटवारे की घोषणा से बंगाली लोग बहुत नाराज़ हुए। आतंकवाद की लहर और ब्रिटिश माल के बहिष्कार का आन्दोलन भारत के अन्य प्रान्तों में भी फैल गया। लार्ड कर्ज़न को अपना आदेश वापस लेना पड़ा और बंगाल फिर एक हो गया, लेकिन देश में असन्तोष और बेचैनी का वातावरण बराबर बना रहा।

कांग्रेस में पिताजी का सम्बन्ध माडरेटों (उदारवादियों) से था, इसलिए वे शिकायतों को संवैधानिक ढंग से ही हल

करने के पक्ष में थे और उग्रवादियों के क्रान्तिकारी कार्यों का कड़ा विरोध करते थे। १९०७ में इलाहाबाद में संयुक्त प्रान्त का प्रादेशिक सम्मेलन हुआ। उसके अध्यक्ष की हैसियत से पिताजी ने जो भाषण दिया, उससे उनके विचारों को काफी समर्थन प्राप्त हुआ। लेकिन गर्म विचार के—उग्र राष्ट्रवादी—अखबार उनपर पिल पड़े। जवाहर उन दिनों ट्रिनिटी कॉलेज, कैम्ब्रिज में पढ़ रहे थे। उन्होंने भी पत्र लिखकर पिताजी को खूब आड़े हाथों लिया और उन्हें 'घोर उदारवादी' तक कह डाला। पिताजी इससे बहुत नाराज़ हुए। उन्हीं दिनों उनके दिल को चोट पहुंचानेवाली एक बात और हुई। मुंशीजी के अट्ठारह वर्ष के बेटे मंज़रअली आतंकवादी आन्दोलन में शरीक हो गए। उन्होंने मंज़र को बुलवा भेजा और आदेश दिया कि फौरन आतंकवादियों से नाता तोड़ लो।

मुंशीजी अपने बेटे को वकील बनाना चाहते थे, जिससे हमारी ही तरह १८५७ के विद्रोह में नष्ट उनकी पारिवारिक सम्पत्ति की क्षतिपूर्ति हो सके। मुंशीजी के प्रति अत्यधिक स्नेह और सम्मान होने के कारण पिताजी ने उन्हें अपना वह पत्र दिखाया, जो उन्होंने उस गुमराह बेटे के नाम लिखा था। मुंशीजी ने भरे दिल से स्वीकृति दी। पिताजी ने लिखा था :

प्रिय मंज़र अली,

अपने बारे में मेरे रवैये को तुम शायद ठीक तरह समझ नहीं पाये हो, इसलिए खत लिखने का फैसला किया है, ताकि तुम्हारे वालिद से मैंने जो-कुछ कहा, उसके बारे में कोई बद-गुमानी न हो। मेरी राय थी कि कालेज बन्द हैं, चुनांचे तुम्हें छुट्टियां बिताने के लिए फिलहाल इलाहाबाद के बाहर चले

जाना और यों अपनेको यहां के असर से बचाना वाजिब होगा। तुम्हारे वालिद को एक पुर्जा भेजकर मैंने यह मन्शा भी जाहिर किया था कि जबतक पढ़ाई कर रहे हो, किसी भी सियासी जल्से में, चाहे वह आम हो या खास, तुम्हारा शिरकत करना ठीक नहीं। अगर यह मंजूर न हो, तो बेहतर होगा कि अपना इन्तज़ाम आप करो, मगर उस सूरत में (जैसाकि तुम्हारे वालिद से कह चुका हूं) आनन्द भवन में रह नहीं सकते।

इतना समझ लो कि तुम्हारी जगह मेरा अपना बेटा होता तो इन हालात में मैंने उससे भी ठीक यही सलूक किया होता। फर्क सिर्फ यह होता कि मैं उसे इस हद तक हर्गिज़ न जाने देता, जबकि तुम्हारी कार्रवाइयों के बारे में मुझे भनक भी न पड़ी। वजह इतनी ही है कि इधर तुम्हारा मुझसे कोई ताल्लुक नहीं रहा, हालांकि पूरे वक्त तुम मेरे साथ एक ही मकान में रहते रहे।

न मैं चाहता हूं, और न तुमसे उम्मीद है, कि महज़ मुझे खुश करने के लिए अपने खयालात को, वे मुझसे कितने ही मुख्तलिफ क्यों न हों, तब्दील करो। लेकिन यह हक तो मुझे है ही कि अपने घर में रहनेवाले हर शख्स से ऐसे वर्ताव की उम्मीद करूं, जिससे मेरी और मेरे घर की बदनामी-बुराई न हो। यहां मेरा इरादा मौजूदा सियासी रुझानों की चर्चा करने का कतई नहीं है। मैं यह पेचीदा सवाल भी नहीं उठाना चाहता कि तालिबइल्मों (विद्यार्थियों) को मौजूदा सियासी हलचलों में हिस्सा लेना चाहिए या नहीं। मेरा वास्ता तो सिर्फ एक विद्यार्थी से है और मैं जानता हूं कि

उसका सियासत में हिस्सा लेना न उसके अपने हक में है और न उसके मुल्क के ही।

क्या तुम्हारे दिलोदिमाग़ में यह बू तो नहीं भरी हुई है कि अपनी पढ़ाई से मुंह मोड़कर और सियासी जल्सों में शिरकत करके तुम अगले अट्ठारह महीनों में हिन्दुस्तान को आज़ाद करा लोगे ? मैं तुम्हें हालात पर गौर और अपने किये पर अफसोस जाहिर करने का मौका देता हूं।...मैं यह मांग नहीं करता कि अपने उसूलों को छोड़ दो या अपने खयालात के बरखिलाफ काम करो। मैं तो सिर्फ इतना चाहता हूं कि खुद अपने तई, अपने वाल्दैन के तईं, अपने रिश्तेदारों, दोस्तों और मुल्क के तईं तुम्हारा जो पहला फर्ज़ है उसे समझो और सबसे पहले उसीको पूरा करो, और मैं यह भी चाहता हूं कि जंग में कूदने से पहले अपने-आपको जरूरी हरबो-हथियार से लैस करो। अब यह पूरी तरह तुमपर मुनस्सर है कि मौके का इस्तेमाल करो या उसे धता बताओ। मैंने अपना फर्ज़ अदा किया।

तुम्हारा अज़ीज़,
भाईजी

लेकिन मंज़रभाई दृढ़ आस्थावाले युवा सुधारक थे और विदेशी शासन से भारत को मुक्त कराने का पक्का फैसला कर चुके थे। उन्होंने पिताजी की सलाह न मानी और घर छोड़-कर चले गए। वह गए उसी साल मेरा जन्म हुआ और मैंने

उन्हें पहली बार उस समय देखा जब वह गांधीजी के कट्टर अनुयायी के रूप में गांव-गांव अहिंसा और असहयोग के सन्देश का प्रचार करते हुए, वर्षों बाद, घर लौटे थे।

मेरे पिताजी अपनी गृहस्थी के बड़े ही उदार, सूझ-बूझ-सम्पन्न, सभीका पूरा खयाल रखनेवाले, अनुशासन के मामले में कट्टर और आज्ञाकारिता के मामले में कठोर स्वामी और शासक थे। मेरे सात चचेरे भाई-बहन उनके साथ रहते थे, जिन्हें उन्होंने कभी पराया नहीं समझा, हमेशा अपने बच्चों-जैसा ही माना। वे सब भी उनसे खूब स्नेह करते और हर काम में उन्हींके सलाह-मशविरे से चलते-बरतते थे। कभी-कभी मुझे अपने चचेरे भाइयों के साथ खेलने की अनुमति मिल जाती थी। हमारा लालन-पालन बड़े कठोर अनुशासन में हुआ—भाई के अंग्रेज़ ट्यूटर थे मि० ब्रूक्स, मेरी और बहन की अंग्रेज़ गवर्नेस थीं कुमारी हूपर। ठीक सात बजे मुझे सोने के लिए भेज दिया जाता था और इसलिए मैं रात में पिताजी के घर लौटने के समय उपस्थित नहीं रह पाती थी। अम्मां से भी हम ज्यादा नहीं मिल पाते थे, क्योंकि स्वास्थ्य अच्छा न रहने के कारण वह अक्सर अपने कमरे में ही रहती थीं।

जवाहर की शादी से हमारे परिवार में एक नये और सबके दुलारे सदस्य का आगमन हुआ। मैं तब सिर्फ नौ बरस की थी और उस उम्र में कमला को भाभी के रूप में लेना मेरी बुद्धि के बूते के बाहर की बात थी, न उन्होंने मुझे कभी ननद समझा। वह मेरे साथ बेटी-जैसा ही व्यवहार करती थीं। लेकिन नान और कमला समवयस्क थीं और आपस में ननद-भौजाई-जैसा व्यवहार करतीं और एक-दूसरे से कतराती

भी था।

इन्दिरा का जन्म उसके माता-पिता, दादा-दादी, चाचियों, ताइयों और बुआओं, सभीके लिए, और खासतौर पर मेरे लिए तो बड़ी ही खुशी और आनन्द का दिन था। स्काटिश डाक्टर के वे सुखदायी शब्द 'श्रीमान्, इतनी नन्ही-मुन्नी-सी बिटिया है', ऐसे लगे मानों मन्दिरों के मंगलवाद्य बज उठे हों। मैंने उसे अपनी छोटी बहन के ही रूप में देखा और समझा। इन्दिरा के पैतृक और मातृक दोनों ही परिवार कुलीन हैं और उसे दोनों ही कुलों की श्रेष्ठतम परम्पराएं विरासत में मिली हैं। उसके पिता सुन्दर-सुशोभन और अति-संवेदनशील, परम विद्वान और बुद्धिशाली तथा उच्च ध्येय के प्रति समर्पित आदर्शवादी व्यक्ति थे; मां परम सुन्दरी, कुसुम से भी कोमल और वज्र से भी कठोर, स्वाधीनता के उसी उच्चतम ध्येय के प्रति लगनशील वीरांगना थीं; दादा प्रख्यात वकील, अदम्य इच्छाशक्तिवाले और संकट के समय सैकड़ों-हजारों की सहायता के लिए तत्पर उदार हृदय पुरुष थे; दादी इतनी मनस्वी थीं कि दुर्बल स्वास्थ्य के बावजूद बुढ़ापे में भी क्रान्तिकारी कार्य में हमेशा अग्रसर रहीं।

इन्दिरा का मातृ कुल भी उतना ही संस्कारशील और उच्च परम्पराओंवाला है। उसके नाना जवाहरमल अपने समय के दिल्ली के प्रमुख और सम्मानित व्यापारी थे और सुन्दर इतने कि देखनेवालों की भूख-प्यास मिट जाती थी। नानी भी वैसी ही आकर्षक, सहानुभूति-प्रवण और सभीकी प्यारी थीं। मेरे पिताजी ने दर्जनों काश्मीरी परिवारों को छान-कर अपने बेटे के लिए सर्वथा उपयुक्त बहू का चुनाव किया था।

३

महात्मा गांधी हमारा जीवन बदलने आये

•

जिस प्रथम महायुद्ध को मित्र-शक्तियों ने 'विश्व को जनतंत्र के लिए निरापद बनाने की लड़ाई' कहा था, वह १९१८ के नवम्बर महीने में समाप्त हो गया। उसके कुछ ही दिनों बाद, मार्च १९१९ में, ब्रिटिश पार्लमेंट ने जनतंत्र-सम्बन्धी अपने वादों को भुलाकर रौलट एक्ट पास कर दिया। इस काले कानून के अन्तर्गत भारत से वे नाममात्र के अधिकार भी छिन गए, जो ब्रिटिशराज में उसे प्राप्त थे। अब स्वतंत्रता नाम को भी नहीं रह गई। जनता क्रुद्ध हो उठी, क्योंकि इस कानून के द्वारा ब्रिटिश शासकों को भारत में "राजनैतिक हिंसा का दमन करने का बेलगाम अधिकार" दिया गया था। कानूनी खानापूरी के बिना ही अन्धाधुन्ध गिरफ्तारियां की जाने लगीं। पुलिस बिना किसी पूर्व-सूचना या चेतावनी के सभाओं को तितर-बितर कर देती, उनमें भाग लेनेवालों पर लाठियां चलतीं और गोलियां बरसाई जातीं। इस काले कानून के विरुद्ध देश में जो तीव्र संघर्ष छिड़ा, उसने मोहनदास करमचन्द गांधी को राष्ट्र का नेता बना दिया। देशवासी उन्हें

प्यार और आदर से महात्मा गांधी कहने लगे ।

गांधीजी २१ वर्ष दक्षिण अफ्रीका में बिताकर १६१५ में भारत लौटे थे । वहां उन्होंने ट्रान्सवाल और नेटाल की भारतीय बस्तियों से बरती जानेवाली भेदभाव की नीति और दुर्व्यवहार के विरोध में जनरल स्मट्स की सरकार के खिलाफ 'अहिंसात्मक निष्क्रिय प्रतिरोध आन्दोलन' चलाया था । अपने इस आन्दोलन का नाम उन्होंने 'सत्याग्रह' रखा, जो संस्कृत भाषा का शब्द है और जिसका अर्थ होता है 'सत्य के प्रति आग्रह' ।

प्रथम महायुद्ध के दौरान गांधीजी ने किसी तरह का राजनैतिक विरोध नहीं किया, उलटे एक एम्बुलेन्स-दल बनाकर युद्ध में ब्रिटिश सरकार की सहायता की । लेकिन १६१६ में जब रौलट एक्ट लागू किया गया, तो वह फौरन ब्रिटिश दमन-नीति का विरोध करने में जुट गए । उन्होंने 'सत्याग्रह-सभा' बनाई और जनता से उसमें शरीक होने की अपील की। इस सभा के सदस्यों को प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वे अन्यायपूर्ण कानूनों को नहीं मानेंगे और सविनय अवज्ञा के लिए जेल जायंगे ।

गांधीजी के इस कार्यक्रम के विवरण समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुए और जवाहर को पहले-पहल अखबारों से ही इसकी जानकारी मिली । असहयोग के द्वारा राजनैतिक सुधार और सरकार बदलने की बात ने फौरन उनका ध्यान आकर्षित किया ।

"उलझन में से आखिर रास्ता निकला—एक तरीका, जो सीधा और खुला और शायद कारगर भी था । मेरे जोश का

पार न रहा और जी चाहा कि फौरन सत्याग्रह-सभा में शरीक हो जाऊं। कानून तोड़ने, जेल जाने आदि के नतीजों के बारे में मैंने ज़रा भी गौर नहीं किया, और अगर करता भी तो मुझे परवा न थी। मगर फौरन मेरा जोश ठण्डा पड़ गया और मैंने महसूस किया कि मामला उतना आसान नहीं है। मेरे पिताजी इस नये विचार के सख्त खिलाफ थे। नये प्रस्तावों और विचारों के बहाव में बहने की उनकी आदत नहीं थी। नया कदम उठाने से पहले उन्होंने नतीजों पर खूब अच्छी तरह गौर किया और जितना ही गौर किया, सत्याग्रह-सभा और उसका कार्यक्रम उन्हें उतना ही कम पसन्द आया।"[1]

पिताजी को विश्वास ही नहीं होता था कि मुट्ठीभर लोगों के जेल चले जाने से देश का भला हो सकता है। इस बात को लेकर उनमें और जवाहर में अक्सर बहसें होतीं, जिससे हमारे घर की शान्ति ही भंग हो गई थी। हर स्थिति में से रास्ता निकालने में कुशल मेरे पिताजी ने आखिर इसका हल भी खोज ही लिया—उन्होंने गांधीजी को ही आनन्द भवन बुलाया। इस तरह गांधीजी हमारे यहां पहली बार आये, और तब से उनका और नेहरू-परिवार का पारस्परिक स्नेह क्रमशः गाढ़ा होता गया।

लम्बी चर्चाओं के दौरान पिताजी और गांधीजी ने भारत की समस्याओं के अपने-अपने हल प्रस्तुत किये। लेकिन अन्त में उनकी चर्चा जवाहर पर केन्द्रित हो गई, क्योंकि पिताजी किसी ऐसे अकाट्य तर्क की खोज में थे, जिससे जवाहर को सत्याग्रह-सभा में शामिल होने से रोका जा सके। इसीलिए तो गांधीजी को उन्होंने अपने यहां बुलाया था। गांधीजी

बिलकुल ही नहीं चाहते थे कि इस सवाल को लेकर पिता-पुत्र में मनमुटाव हो, इसलिए वह पिताजी की इस राय से सहमत हो गये कि जवाहर को जल्दबाजी में कोई फैसला नहीं करना चाहिए। लेकिन गांधीजी की यह सलाह बेकार ही साबित हुई, क्योंकि जल्दी ही घटना-क्रम ने ऐसा मोड़ लिया, जिससे सब-कुछ गड़बड़ा गया; और वह लोहमर्षक घटना थी पंजाब के एक शहर अमृतसर में निहत्थे लोगों पर गोरी हुकूमत का खूनी हमला।

इलाहाबाद से गांधीजी अपने आन्दोलन को वेग देने के लिए दिल्ली चले गए। वहां उन्होंने रौलट एक्ट को रद्द करने की मांग के समर्थन में ३१ मार्च, १६१६ को एक देशव्यापी आम हड़ताल की घोषणा की। भारी संख्या में लोग उनकी सभा में शरीक हुए और हड़ताल करने के उनके आह्वान को बड़े ध्यान और उत्साह से सुना। जनता के इस जोश से ब्रिटिश हुकूमत घबरा गई और उसने गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया।

गांधीजी के गिरफ्तार किये जाते ही दिल्ली और दूसरे शहरों में उपद्रव शुरू हो गये। सभा करने और जुलूस निकालने पर फौरन पाबन्दी लगा दी गई। लेकिन इससे लोगों के गुस्से और जोश में कोई फर्क नहीं पड़ा और न उन्हें यही पता चला कि गांधीजी फौरन छोड़ भी दिये गए। १३ अप्रैल को कई हज़ार स्त्री, पुरुष और बच्चे अमृतसर के जलियांवाला बाग में इकट्ठे हुए। यह चारों ओर ऊंची-ऊंची इमारतों से घिरा एक खुला मैदान था, जिसमें जाने-आने के लिए सिर्फ एक ही रास्ता था। जनरल डायर ने, जिसे इस सभा को भंग

करने के लिए भेजा गया था, रास्ते की नाकेबन्दी कर अपने सनिकों को गोली चलाने का हुक्म दे दिया। गोलीवारी में सैकड़ों मारे गए और हजारों घायल हुए। जनरल डायर को इतने से ही सन्तोष न हुआ, गोलीवारी के बाद मार्शल लॉ के दौरान उसने जी भरकर अत्याचार किये—राह चलते लोगों को सरेआम कोड़े लगवाये और उन्हें सड़क पर पेट के बल रेंगने को मजबूर किया। इसके साथ ही जले पर नमक छिड़कनेवाली बात यह हुई कि 'इंग्लैण्ड की महिलाएं' नामक किसी समूह या समिति ने उसे इन अमानुषी कृत्यों के सम्मानार्थ सोने की तलवार भेंट करने के लिए चन्दा किया। फिर भी मार्च १९२० में उसे अपने पद से इस्तीफा देना ही पड़ा।

अहिंसा के हामी गांधीजी इस तरह की हिंसात्मक कार्रवाइयों से इतने दुःखी हुए कि उन्होंने सत्याग्रह-आन्दोलन ही बन्द कर दिया। लेकिन इसका एक अच्छा परिणाम यह हुआ कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस असहयोग की उनकी नीति की समर्थक हो गई।

निहत्थी और निरीह जनता के इस कत्लेआम ने पिताजी के विचारों में आमूल परिवर्तन कर दिया। वह गांधीजी के प्रबल प्रशंसक और जवाहर के मत के अनुकूल हो गए। उनका विचार-परिवर्तन इतने नाटकीय ढंग से हुआ कि वह अच्छी चलती हुई वकालत को लात मार जी-जान से राजनीति में कूद पड़े। जब कांग्रेस ने अधिकृत जानकारी के लिए जलियांवाला बाग-हत्याकाण्ड की जांच-समिति नियुक्त की तो पिताजी और जवाहर गांधीजी के साथ उस समिति के सदस्य की हैसियत से जांच के लिए अमृतसर गए।

घटना-क्रम ने हमारे परिवार का जीवन-प्रवाह ही वदल दिया। कहां तो हमारे खाने की टेवलों पर वढ़िया किस्म के देशी-विदेशी खानों के दौर चलते थे और कहां अव बहुत ही सादगीपूर्ण भारतीय भोजन थालियों में परोसा जाने लगा! चार-छः कटोरियों में सालन, दाल, दो-एक सब्जियां, दही, अचार और चटनी के साथ चपातियां या पराठे, चावल और अन्त में एक मिठाई—वस, अव यही हमारा भोजन था।

अव न वह गपशप होती और न हँसी-मज़ाक ही। उनकी जगह ठस राजनैतिक चर्चाओं के गम्भीर वातावरण ने ले ली थी। हां, पिताजी जरूर कभी कोई मज़ाक कर बैठते और उनका बुलन्द कहकहा सारे घर को गुंजा देता। मकान में मेहमानों का तांता लगा रहता और कोई-कोई तो हफ्तों डेरा जमाए रहते। अव आमतौर पर सभी आनेवाले गांधीजी के अनुयायी और खद्दरधारी होते थे। गांधीजी के सिवा, जो जव भी इलाहाबाद आते, हमारे यहीं ठहरते, आगन्तुकों में खिलाफत-आन्दोलन के नेता-द्वय मौलाना मोहम्मद अली और उनके भाई शौकत अली, (जो दोनों ही अव कांग्रेस में शामिल हो गये थे) हमारे परिवार के डाक्टर और मित्र डाक्टर अन्सारी, भारत के लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल, और मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद होते थे। वड़ी ही शाइस्ता जुवान वोलनेवाले आज़ादसाहब वात-वात में उर्दू-फारसी के शेर कहते और पिताजी से उनकी खूब घुटती थी, क्योंकि पिताजी भी फारसी के विद्वान् थे दोनों की वातें सुनने में हमें वड़ा मज़ा आता था। और अक्सर कवयित्री सरोजिनी नायडू भी आतीं, जो अपनी हाजिर-जवावी और मीठी वातों से सवका मन मोह

लेती थीं। कुछ लोग सिर्फ राजनैतिक चर्चा के ही लिए आते थे, शायद यह योजना बनाने के लिए कि ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ कांग्रेस का अगला कदम क्या होना चाहिए।

रात हो या दिन, हमारे घर पुलिस का झपट्टा कभी भी लग जाता—किसीको गिरफ्तार करने या छोटे-मोटे जुर्माने में कीमती कालीन या कोई सामान जब्त करने के लिए; क्योंकि सत्याग्रही होने के कारण, हमारे परिवारवाले जुर्माना अदा नहीं करते थे। हम हर क्षण दुविधा में रहते, कब कौनसा बखेड़ा खड़ा हो जायगा यह बता नहीं सकते थे; और जेल-यात्राएं तो थीं ही, जो प्रियजनों से लम्बे विछोह करा देतीं।

नेहरू-परिवार के बच्चों के पहले के कड़े अनुशासन-बद्ध और व्यवस्थित जीवन को अब काफी हद तक स्वच्छन्दता की अनुमति मिल गई थी। इन्दिरा का बचपन गवर्नेस के नियंत्रण के बिना ही बीत रहा था। उसके सोने का कोई निश्चित समय नहीं था। वह गम्भीर बालिका, आज़ादी से यहां-वहां घूमती हुई, बड़ों की बातों को कुतूहलपूर्वक सुना करती—उन बड़ों की बातें जो अपने देश के इतिहास के निर्माण में महत्त्व-पूर्ण भूमिकाएं अदा करने जा रहे थे। उन दिनों की घटनाओं की उसपर खूब गहरी छाप पड़ी। पिताजी को अपनी पोती पर बड़ा गर्व था। वह उसे बहुत मानते थे और सभी अति-थियों के आगे उसकी खूब प्रशंसा करते थे।

४

'जोन ऑफ आर्क'

•

जवाहर १६१२ में कैम्ब्रिज से भारत लौटे तो यहां के राजनैतिक आन्दोलन में गतिरोध आ चुका था। लेकिन वह स्वयं विलायत से उग्र विचार लेकर आये और पिताजी के नरम विचारों से उनकी अक्सर भिड़न्त हो जाती। रोज-रोज की उस वैचारिक टकराहट के कारण हमारा पूरा परिवार उद्विग्न रहने लगा। सौभाग्य से दोनों में समझौते के आसार भी जल्दी ही सामने आये। थियोसोफीकल सोसाइटी की महिमामयी देवी, श्रीमती ऐनी बेसेण्ट ने १६१६ में 'होमरूल लीग' की स्थापना की थी। जवाहर जल्दी ही उसके सदस्य बन गए। एक वर्ष बाद जब श्रीमती बेसेण्ट गिरफ्तार कर ली गईं तो पिताजी भी उसमें शरीक हो गये। उन्होंने होमरूल के पक्ष में बड़ा जोशीला भाषण दिया और लीग की इलाहाबाद शाखा के अध्यक्ष चुन लिये गए। भारतीयों से हिकारत करने-वाले विदेशी शासकों की ठकुरसुहाती करने और विनम्रता-पूर्ण प्रार्थना-पत्र देने से उन्हें विराग हो गया।

ब्रिटिश शासकों ने श्रीमती बेसेण्ट की गिरफ्तारी भारत

सुरक्षा कानून के अन्तर्गत की थी । यह दमनकारी कानून पहले महायुद्ध के समय भारत में रंगरूटों की भर्ती के अघोषित उद्देश्य से बनाया गया था । लेकिन अंग्रेजों ने श्रीमती बेसेण्ट को जल्दी ही छोड़ दिया । यह भारतीय नेताओं को गिरफ्तार करने और कुछ समय बाद रिहा कर देने की अंग्रेज़ों की एक राजनैतिक चाल ही थी । गिरफ्तारी १६१७ के जून महीने में हुई और अगस्त में ब्रिटिश सरकार ने एक समझौतावादी घोषणा की, जिसमें कहा गया कि "ब्रिटिश साम्राज्य के अविभाज्य अंग के रूप में भारत को क्रमशः उत्तरदायी शासन प्रदान करना" इस नीति का मूल उद्देश्य है ।

भारतीय जनता को इस नई नीति के अन्तर्गत नागरिक स्वतंत्रता की धुंधली-सी आशा बंधी ही थी कि अपने ही देश के प्रशासन में भारतीयों के सहयोग की दिशा में कोई प्रगति न होते देख ब्रिटिश वायदे पर सन्देह होने लगा । फिर सहसा १६१६ में रौलट एक्ट थोपा गया, जिससे जनता की सभी आशाओं पर तुषारपात हो गया । विधि-शास्त्री—वकील—होने के कारण पिताजी का संवैधानिक सुधार पर दृढ़ विश्वास था, लेकिन ब्रिटिश सरकार के इस (कुकृत्य) से उनका यह विश्वास डिग गया । अब विधि-सम्मत शासन के लिए उनके मन में भला क्या सम्मान हो सकता था !

१६२० के शरत्कालीन विशेष अधिवेशन में कांग्रेस ने गांधीजी की असहयोग की नीति को अंगीकार कर लिया । असहयोग के कार्यक्रम में सरकारी पदवियों, सरकारी अथवा सहायता-प्राप्त स्कूल-कालेजों, अदालत-कचहरियों, विधान सभाओं एवं विदेशी माल का बहिष्कार सम्मिलित था ।

अन्यायपूर्ण कानूनों का विरोध और शान्तिपूर्वक जेल जाने की तैयारियों की घोषणा भी की गई। इस तरह गांधीजी की सत्याग्रह की नीति कांग्रेस की अधिकृत नीति बन गई।

वकालत छोड़ देने से पिताजी की भारी आय भी बन्द हो गई और हम सादगी से रहने लगे। नौकरों की तादाद एकदम घटा दी गई। बिल्लौरी कांच और चीनी मिट्टी के बढ़िया बरतन, अस्तबल के उम्दा घोड़े और कुत्ते तथा तरह-तरह की उत्तम शराबें आदि सभी विलास-सामग्रियां बेच दी गईं। अम्मां और कमला के पास बहुत-से कीमती गहने थे—अंगूठियां, बालियां और कर्णफूल, हार, कंगन, कांटे और ब्रूच; सभी सोने के और हीरे-मोती, माणिक-पन्ना जड़े हुए। अपने लिए मामूली गहने रखकर, अम्मां और कमला बाकी सब बेचने के लिए राजी हो गईं।

पिताजी ने अपना मकान कांग्रेस को भेंट कर दिया। नया छोटा मकान बनकर तैयार होने तक कई बरस हम उसी बड़े मकान में रहे। पिताजी ने 'छोटा' मकान सादगी के खयाल से बनाया था, लेकिन १९२९ में जब हम नये मकान में रहने गए तो वह कम-से-कम प्रचलित अर्थ में तो सादा नहीं ही था। छोटा होते हुए भी हमारा नया मकान बहुत ही सुन्दर और मुझे बेहद प्यारा था। इस मकान का नाम भी 'आनन्द भवन' रखा गया और जो कांग्रेस को भेंट किया गया था, वह 'स्वराज्य भवन' कहलाने लगा।

शुरू में तो मुझे हाथ की कती-बुनी मोटी खादी पहनना ज़रा भी न सुहाता और मैं नाक-भौं सिकोड़ती, मगर धीरे-धीरे अभ्यस्त हो गई। सादगी और संयमवाले आडम्बर-हीन

नये जीवन का ढंग हम सभीको आकर्षक लगता था ।

घर में जल्दी ही एक और बड़ा काम यानी शादी हुई । १० मई, १९२९ को स्वरूप का विवाह ब्राह्मण, बैरिस्टर और संस्कृत के विद्वान रणजीत सीताराम पण्डित से दोनों परिवारों, गांधीजी और कई कांग्रेसी सदस्यों की उपस्थिति में हुआ । दुलहिन ने बा (कस्तूरबा गांधी) द्वारा कते हुए महीन सूत की खादी की साड़ी पहनी थी । बदली हुई हालतों में भी शादी जितनी धूम-धाम से हो सकती थी, पिताजी ने की, हालांकि घर के करीब पुलिस चौकन्नी खड़ी थी ।

ससुराल में स्वरूप का नया नाम रखा गया—विजयालक्ष्मी । उसी दिन से वह विजयालक्ष्मी पंडित मशहूर हुईं ।

अम्मां इन्दिरा पर जान देती थीं । जवाहर उन्हें अक्सर टोका करते कि इतना लाड़-प्यार अच्छा नहीं, पर अम्मां सुनो-अनसुनी कर जातीं । इन्दिरा अम्मां को दादी नहीं, 'डोल अम्मां' कहती थी । तार की जालीवाली अलमारी को यों तो डोली, पर कई लोग डोल भी कहते हैं । अम्मां अपनी डोल में तरह-तरह की मिठाइयां रखतीं और इन्दिरा को ये निषिद्ध चीज़ें दिन में अक्सर खिलाया करतीं । इन्दिरा इसीलिए उन्हें डोल अम्मां कहने लगी थी ।

हमारे घर के राजनैतिक वातावरण ने इन्दिरा के बालमन में असामान्य—अनोखे-विचार पैदा कर दिये थे । परिवार में बिलकुल अकेला बच्चा होने के कारण वह अपनी गुड़ियों से जलसे-जुलूस के राजनैतिक खेल खेला करती । मेज़ पर वह कभी भड़कीले और कभी सादे देहाती कपड़े पहनाकर गुड़ियों की एक कतार को लाठी और बन्दूकधारी गुड्डे

सिपाहियों के सामने खड़ा कर देती। किसान-वेशधारी गुड़ियों के हाथों में कागज़ के कांग्रेसी झण्डे होते और इन्दिरा नेता बनी उनके आगे भाषण करती—अपने पिता, दादा और गांधीजी को इसी तरह भाषण करते उसने देखा था। अपने सत्याग्रहियों से वह कहती, 'आगे बढ़ो, कांग्रेस का झण्डा ऊंचा रहे, ब्रिटिश हुकूमत की फौज-पुलिस से ज़रा भी मत डरो।' आनन्द भवन की ऊंची अटारियों से कांग्रेसी झण्डा लिये सफेद खादीधारी कांग्रेसी स्वयंसेवकों के ऐसे जुलूस वह रोज ही देखती थी।

इन्दिरा को विदेशी कपड़ों की होली जलाने में भी खूब मज़ा आता था। अपने पिता और दादा के पेरिस में सिले कीमती सूट, टाइयां, कमीज़ और टोपों की होली जलाई जाते उसने देखी थी। गांधीजी का कहना जो था कि विदेशी माल का बहिष्कार किया जाय। कमला और अम्मां की सुन्दर कीमती रेशमी और ज़री की साड़ियां भी आग में होमी गईं थीं, जो गांधीजी के सरल-सादे जीवन और घर के कते-बुने गजी-गाढ़े को प्रोत्साहन देने के उपदेश के अनुकूल ही था, और नन्ही इन्दिरा ने भी फैसला कर लिया कि विदेशी कपड़ों की होली जलाना बिलकुल सही काम है। उसका दैनन्दिन जीवन राष्ट्र के स्वाधीनता-संग्राम से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ था। उन दिनों की मनोभावना और जोश का एक जगह जवाहर ने ठीक ही वर्णन किया है :

"१९२१ में कांग्रेस के लिए काम करनेवाले हम लोगों पर एक नशा-सा छाया रहता। हम जोश-खरोश, उत्साह-उमंग और उम्मीदों से भरे हुए थे।"[1]

लेकिन जल्दी ही जवाहर के लिए अपना ज्यादातर समय घर के बदले जेल में बिताने की बारी आई। इन्दिरा का शुरू का बचपन क्रूर बिछोह की स्मृतियों से भरा है, क्योंकि परिवार का कोई-न-कोई व्यक्ति अकस्मात् पकड़कर जेल में ठूंस दिया जाता था। बड़ा घर बहुत सूना-सूना लगता और वह उदास हो जाती। रोक-टोक के लिए गवर्नेस तो कोई थी नहीं, इसलिए वह अपनी दादी के पास मिठाई के लिए या सवालों की झड़ी लगाने के लिए दादाजी के पास पहुंच जाती और मेरे पिताजी कितने ही काम में व्यस्त क्यों न हों, उसके सवालों का जवाब जरूर देते। जब उसके पिता जेल से लौट आते, तो वह उनसे लिपट जाती और तमाम घटनाओं का कारण बताने के लिए कहती।

बचपन में उसपर सबसे अधिक प्रभाव शायद उसके दादाजी का ही पड़ा। बरसों बाद उनके प्रति अपने स्नेह और सम्मान को उसने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है :

"दादाजी के शक्ति-सम्पन्न होने के कारण मेरी उनपर बड़ी श्रद्धा थी, और स्नेह भी था, क्योंकि जीवन के प्रति उल्लास उनमें फूटा पड़ता था। आगे चलकर यह (जीवनोल्लास) मेरे पिताजी में भी विकसित हुआ। लेकिन सबसे अधिक मैं अपने दादाजी के बड़ेपन से प्रभावित थी—मेरा मतलब उनके शारीरिक डील-डौल से नहीं, उनके बड़प्पन, उनकी महानता से है। वह इतने विशाल लगते थे मानो सारी दुनिया को अपनी बांहों में समेटे हुए हों। उनके हँसने का ढंग भी मुझे बहुत प्रिय था।"[२]

मोतीलाल नेहरू अपने सफेद कुर्त्ते, धोती और चादर में,

जो शुद्ध खादी के होते थे, बिलकुल रोमन सिनेटर की तरह लगते थे। वह सफेद खादी की टोपी पहनते, जो कांग्रेसी होने की निशानी थी। उनके गरिमामय और भव्य व्यक्तित्व का उल्लेख एक अखबारनवीस सन्त निहालसिंह ने इन शब्दों में किया है :

"हाथ कती मोटी और खुरदरी खादी वह पहने थे, जिसने उनके सुदर्शन चेहरे और सुडौल शरीर को और भी महिमा-मण्डित कर दिया था।"

जवाहर ने भारत के भूखों और गरीबों तक आशा का सन्देश पहुंचाना शुरू किया। वह गांव-गांव घूमे, किसानों के दुःख-दर्द को सुना और उन्हें भारत की आजादी तथा एक अच्छे जीवन के लिए काम करने को प्रेरित-प्रोत्साहित किया। उनकी इन गति-विधियों से भारत सरकार सशंक हो उठी और उन्हें गिरफ्तार करने का मनसूबा करने लगी। इसके बाद इन्दिरा के जीवन में अपने परिवारवालों से बिछुड़ने के दिन आये। अक्सर उस बड़े घर में वह अकेली रह जाती थी।

६ दिसम्बर, १९२१ को, चार वर्ष की उम्र में, इन्दिरा का पहला दीक्षा-संस्कार हुआ, जब पुलिस पिताजी और जवाहर को कांग्रेस स्वयंसेवक दल के सदस्य होने और ब्रिटिश माल का बहिष्कार करनेवाला पर्चा बांटने के आरोप में गिरफ्तार करने के लिए आनन्द भवन में दाखिल हुई। दूसरे ही दिन मुकदमा चला। इन्दिरा सारे समय अपने दादाजी की गोद में बैठी रही, जिन्होंने सत्याग्रही होने के नाते न तो अदालत की किसी कार्रवाही में भाग लिया और न अपना बचाव ही किया। उन्होंने अंग्रेजों की अदालत को मानने से ही इनकार कर

दिया था। मुकदमे का नाटक चला और पिताजी को छः महीने की कैद और पाँचसौ रुपये जुर्माने की सजा सुना दी गई। इन्दिरा चुपचाप बैठी अपने उमड़ते हुए आंसुओं को रोकने की कोशिश करती रही। जवाहर को भी यही सजा दी गई।

हम अपने घर लौटे, जो खाली, सूना और बेजान लग रहा था। दूसरे दिन पुलिस फिर आई और जुर्माना अदा न करने के ऐवज में हमारे कुछ कीमती कालीन जब्त करके ले गई। हम चुपचाप, मगर गुस्से से उबलते हुए, इस ज्यादती को देखते रहे। मगर नन्ही इन्दिरा जब्त न कर सकी। गुस्से में पैर पटकते हुए वह चिल्ला उठी :

"तुम इन चीज़ों को नहीं ले जा सकते। ये हमारी हैं।"

घूंसा तानकर वह पुलिस दारोगा पर झपट पड़ी। बड़ी मुश्किल से हम उसे वहां से हटा और शान्त कर पाये।

इन गिरफ्तारियों के तुरंत बाद, हम जितने लोग बाहर रह गए थे, इन्दिरा को अपने साथ लेकर, अहमदाबाद के पास, साबरमती के किनारे, गांधीजी के आश्रम में रहने चले गए। कांग्रेस का सालाना जलसा वहीं हो रहा था और गांधीजी चाहते थे कि हम उसमें शरीक हों और उन्हींके साथ रहें। आश्रम का जीवन कठोर संयम का जीवन था। बिना नमक का सादा स्वादहीन भोजन, अपने कपड़ों और कमरों की सफाई स्वयं करना, फर्श पर सोना और सवेरे चार बजे उठकर साबरमती के किनारे प्रार्थना में सम्मिलित होना। हम, जो ऐशोइशरत के आदी थे, शुरू-शुरू में तो बहुत घबराए और बड़ा अटपटा भी लगा, लेकिन धीरे-धीरे वहां के त्याग-तपस्यामय जीवन के अभ्यस्त हो गये और संयम का वह पाठ

आगे कांग्रेस की सेवा में, जब सत्याग्रही बने तो खूब काम आया। केवल अम्मां को, जो बहुत दुबली और कमज़ोर थीं, तथा हमारी एक भाभी, उमा नेहरू को वहां के कठोर नियमों से छुट्टी दी गई थी। बाकी आश्रम में रहनेवाले सभी मेहमानों को बड़े सवेरे ठण्ड में ठिठुरते हुए प्रार्थना-सभा में हाजिर होना ही पड़ता, जहां हिन्दू धर्मशास्त्रों, कुरान, बाइबिल और अन्य धर्म-ग्रन्थों से पाठ होता और प्रार्थना तथा भजन गाये जाते। मुझे वे प्रार्थना-सभाएं बहुत अच्छी लगती थीं। इन्दिरा के लिए यह सब बहुत नया और अद्भुत था—वह बड़े उत्साह से सबमें खुशी-खुशी भाग लेती। गांधीजी को बच्चे बहुत प्यारे थे, इसलिए वह उनसे बड़ी जल्दी हिल गई।

साबरमती से हम लौटे तो घर की वह शोभा नहीं रह गई थी। पिताजी और जवाहर की अनुपस्थिति में हम औरतें राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेने लगीं—कांग्रेस की सभाओं में जातीं और जुलूसों में शरीक होतीं। कमला और मैं खादी का कुर्ता, पायजामा और गांधी टोपी पहनने लगी थीं। इन्दिरा भी इसी तरह की पोशाक के लिए ज़िद करती, क्योंकि वह अपनेको कांग्रेस का स्वयंसेवक ही समझती थी। यों वह अधिकतर अपनी दादी और मासी-मां (बीबी अम्मां) के पास घर पर ही रहती थी, लेकिन राजनैतिक चर्चाएं सुन-सुनकर उसमें यह भाव दृढ़ हो गया था कि भारतीय जनता की आज़ादी के लिए काम करना उसका भी कर्त्तव्य है। एक तरह से देखा जाय तो आम बच्चों-जैसा बचपन उसने जाना ही नहीं और न उसके खेल के साथी ही थे। हमारे रिश्तेदारों के कुछ बच्चे थे जरूर, लेकिन हम लोगों के राजनैतिक कार्यों की वजह से

वे डरते थे और अपने बच्चों को हमसे दूर ही रखते थे।

इन्दिरा बहुत दुबली-पतली थी और उसके स्वास्थ्य को लेकर जवाहर हमेशा चिन्तित रहते थे। लखनऊ-जेल से १९२२ में (यह उनका दूसरा कारावास था) लिखे पत्रों में अपनी बेटी के प्रति उनके गहन प्रेम और उसे देखने की उत्कट इच्छा की झलक मिलती है; "कल उसे देखे तीन महीने हो जायंगे;" वह लिखते हैं, "और वह बहुत कमजोर और दुबली थी। मैं चाहता हूं कि उसकी पढ़ाई का कोई इन्तज़ाम किया जाय। मुझे यकीन है कि इस काम को मैं ज़रूर संभाल लेता—मगर अभी तो बैरक नं० ४ में हूं।" इन्दिरा को उन्होंने लिखा था :

"पापू का प्यार। जल्दी अच्छी हो जाओ, खत लिखना सीख लो और मुझसे जेल में मुलाकात करने आओ। तुम्हें देखने के लिए मैं बेताब हूं। दादू (इन्दिरा के दादाजी) तुम्हारे लिए जो नया चर्खा लाये, क्या उसे तुम चलाती हो? अपना काता हुआ सूत मुझे भेजो। अम्मां के साथ रोज़ प्रार्थना करती हो न?"

एक और पत्र में :

"प्यारी बेटी इन्दिरा को पापू का प्यार। कलकत्ता तुम्हें पसन्द आया? क्या बम्बई से अच्छा है? कलकत्ता का अजायबघर देखा? कौन-कौन-से जानवर देखे? वहां तुमने एक विशाल पेड़ भी देखा होगा! इलाहाबाद लौटने से पहले तुम्हें खूब मोटा-तगड़ा हो जाना चाहिए।"

इन्दिरा इतने स्कूलों में पढ़ी कि सबके नाम याद कर पाना मुश्किल ही है। जब छह बरस की हुई, तो पिताजी ने (कमला से सलाह-मशविरा कर) उसे इलाहाबाद के सेंट

सेसीलिया हाई स्कूल में भर्ती करा दिया। अपनी गवर्नेस की शादी हो जाने के बाद मैं भी इस स्कूल में कुछ दिन पढ़ी थी। कैमेरोन नाम की तीन अंग्रेज़ क्वारी बहनें इस स्कूल को चलाती थीं और वहां उस जमाने में भी लड़के-लड़कियां साथ पढ़ते थे। इन्दिरा के लिए इंग्लिश स्कूल क्या चुना गया, बेसिरपर की अफवाहों का बाज़ार ही गर्म हो गया। लोग ले उड़े कि जवाहर, जो हाल ही में जेल से छूटकर आये थे, इस बात को लेकर बड़े नाराज़ हैं और बाप-बेटे में ठन गई है और इसी तरह की बातें बकी जाने लगीं। ये बातें गांधीजी तक भी पहुंचीं और उन्होंने पिताजी को एक पत्र लिखकर भाई के पक्ष की पैरवी की। पिताजी ने तार से जवाब दिया कि सारा किस्सा सफेद झूठ और नीचतापूर्ण है। उन्होंने गांधीजी को सही बात बताते हुए लिखा कि जवाहर के एतराज की वजह विदेशी संस्थाओं से असहयोग की नीति न होकर सेण्ट सेसीलिया का शैक्षणिक स्तर है। भाई का खयाल था कि वहां इन्दिरा को उच्च स्तर की शिक्षा न मिल सकेगी और पिताजी ने उसे वहां सिर्फ यह सोचकर भर्ती कराया था कि हमउम्र बालक-बालिकाओं का संग मिल सकेगा; और जवाहर भी पिताजी के इस विचार से सहमत थे। वर्षों बाद, 'भारत छोड़ो-आन्दोलन' के दौरान, जब मेरी बहन (नान) ने अपनी तीनों लड़कियों को पढ़ने के लिए अमरीका भेजा तो ठीक ऐसा ही बावेला मचा था। मैंने यह खबर जब भाई को अहमदनगर के किले में, जहां वह उन दिनों कैद थे, पहुंचाई तो उन्होंने यही जवाब दिया कि बहन का निर्णय ठीक ही है।

हमारे राजनैतिक और अव्यवस्थित जीवन के कारण

इन्दिरा की नियमित स्कूली शिक्षा में बराबर बाधा पड़ती रही। लेकिन हम सब लोगों के पुस्तक-प्रेम और आनन्द भवन के सुसम्पन्न पुस्तकालय ने इस क्षति को काफी हद तक पूरा किया। आपस में पुस्तकें उपहार देने का हमारे यहां बरसों से रिवाज चला आता है। जेल से भी जवाहर समय-समय पर इन्दिरा के लिए तरह-तरह की किताबें खरीदने के आदेश दिया करते थे। वह भी परीकथाएं और शेक्सपीयर, डिकेन्स और शॉ की कृतियों के बाल-संस्करण और मेरे लिए खरीदा गया कालजयी (क्लासिकी) साहित्य पढ़ती ही रहती थी। आज वे सभी किताबें दिल्ली-स्थित जिस तीन मूर्ति भवन में जहां जवाहर प्रधानमंत्री के रूप में रहते थे और जो अब उनका स्मारक और नेहरू संग्रहालय है, उसके बाल पुस्तकालय में रखी हुई हैं।

किताबें पढ़ते-पढ़ते कुछ किताबें, पात्र और घटनाएं इन्दिरा को विशेष रूप से प्रिय हो गई थीं। जोन आफ आर्क की कहानी उसकी ऐसी ही प्रिय कहानियों में से थी। एक दिन मैंने उसे बरामदे के जंगले के पास खड़े देखा—एक हाथ दृढ़ता से पत्थर की मुंडेर पर रखे और दूसरा हाथ अधर में इस तरह उठाये हुए मानों अपने श्रोताओं को किसी महान उद्देश्य के लिए प्रेरित कर रही हो। इस घटना का मैंने अपनी पुस्तक 'हम नेहरू' में वर्णन भी किया है :

"वह कुछ बुदबुदा रही थी, इसलिए मैंने पास जाकर पूछा, 'यह क्या हो रहा है?"

घने काले बालों और चमकती हुई आंखोंवाले गोल चेहरे को उठाकर मेरी ओर गम्भीरता से देखते हुए उसने

जवाब दिया, "जॉन आफ आर्क बनने का अभ्यास कर रही हूं। अभी-अभी उसीके बारे में पढ़ रही थी। एक दिन जोन आफ आर्क की तरह मैं भी आज़ादी की लड़ाई में अपनी जनता का नेतृत्व करूंगी।"[3]

पढ़ी हुई कहानी का अभिनय करते हुए उसने अनुभव किया, मानो वह अपने देश की स्वाधीनता-संग्राम की पुकार में भाग ले रही हो और आगे चलकर उसने पूरी निष्ठा से उस संघर्ष में भाग लिया।

५

'हमारे महिला-समाज का गौरव'

•

इन्दिरा के जन्म के बाद कमला कमजोर होती गईं। वह जल्दी थक जातीं और उन्हें पूरी तरह स्वस्थ होने में कई महीने लग गये। १९२४ में उनके एक लड़का हुआ, जो सिर्फ तीन दिन जीवित रहा। इस बार भी तबीयत संभलने में बहुत देर लगी और काफी दिन दवा-दारू और इलाज करना पड़ा। पिताजी ने अपने बेटे के लिए जिस स्वस्थ लड़की को चुना था वह लगातार बीमार रहने लगी। अन्त में निदान किया गया, तो पता चला कि उसे क्षय हो गया है। रोग के उपचार के लिए डाक्टरों ने स्विट्ज़रलैण्ड ले जाने की सलाह दी।

मार्च १९२६ में, कमला और जवाहर, अपनी बेटी के साथ जहाज से यूरोप के लिए रवाना हुए। यह तय पाया कि पिताजी कुछ समय बाद जायंगे और मुझे भी साथ ले जायंगे। उन्हें आराम की सख्त जरूरत थी, लेकिन दुर्भाग्य से एक मुकदमे की, जो बरसों से उनके हाथ में था, फैसले की तारीख मई में रख दी गई और उन्हें रुक जाना पड़ा। उन्होंने ज़ोर दिया कि मैं तो योजनानुसार चली ही जाऊं, क्योंकि कभी विदेश

नहीं गई थी और वहां कमला की देख-भाल और जिनेवा में उन्होंने जो मकान लिया था उसके इन्तजाम में जवाहर का हाथ बंटा सकूंगी। पिताजी यह भी चाहते थे कि हम लोगों के राजनीति में भाग लेते रहने के कारण मुझे विधिवत् शिक्षा से वंचित रह जाना पड़ा है, इसलिए जिनेवा के इंटरनेशनल स्कूल में भर्ती होकर कुछ भाषाएं सीख लूं। अम्मां ने सुना कि अकेले इतनी दूर जा रही हूं, तो बहुत घबराईं और यही चाहती रहीं कि जाने से पहले किसी कश्मीरी लड़के से मेरी सगाई हो जाय।

मैं जून में जल-मार्ग से यूरोप के लिए रवाना हुई। जवाहर मुझे लेने के लिए नेपल्स आये और वहां से हम दोनों जिनेवा साथ गये। इन्दिरा को स्कूल भेजने का फैसला वह पहले ही कर चुके थे और पहाड़ों में वेक्स के 'ईकोल नूवेल स्कूल' में भर्ती भी करा दिया था। लगातार बड़ों के साथ गरम राजनैतिक वातावरण में रहने के कारण इन्दिरा की रुचियां अपनी उम्र के बच्चों से सर्वथा भिन्न प्रकार की थीं। वह काफी प्रौढ़ हो गई थी। राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष का मतलब वह समझती थी और यूरोप की राजनीति की भी थोड़ी-बहुत जानकारी उसे थी। उसके सहपाठियों की पूरी दिलचस्पी खेल-कूद में थी, राजनीति से उन्हें कोई मतलब नहीं था। इन्दिरा उनमें घुल-मिल न पाती, न उसे उनके खेल-कूद में भाग लेने की इच्छा ही होती; वह सबसे अलग-थलक अकेली रहा करती। भाग्य उसे से अपने पिता और मेरी ही तरह शीतकालीन खेल पसन्द थे। कई बार बुरी तरह पटकनियां खाकर अन्त में उसने बर्फ पर फिसलने, कूदने और दौड़ने का खेल स्की और स्केट सीख ही लिया और बड़ी रुचि से उनमें भाग लेने लगी।

जिनेवा के फ्लैट (एपार्टमेंट) में मैं हमारी नौकरानी मारग्युराइट की सहायता से घर-गिरस्ती चलाने के गुर सीखने लगी। वही मुझे फ्रेंच बोलना भी सिखाती थी। इंटरनेशनल ग्रीष्मकालीन स्कूल में भी मैं भर्ती हो गई। वहां विभिन्न देशों के प्रसिद्ध वक्ता और राजनेता, कलाकार, वैज्ञानिक, लेखक आदि विविध क्षेत्रों के विद्वान स्त्री-पुरुष रोचक भाषणों के माध्यम से विद्यार्थियों को भाषाओं का ज्ञान कराते थे।

जिनेवा में कमला के स्वास्थ्य में सन्तोषजनक सुधार नहीं हो रहा था, इसलिए हम स्विट्ज़रलैण्ड में दूसरी स्वास्थ्यवर्द्धक जगह चले गये, जहां मोन्ताना-वेमाला का बढ़िया आरोग्यधाम (सेनिटोरियम) था। वहां कमला की देख-भाल का उचित प्रबन्ध हो जाने से मैं और जवाहर इटली के नगरों और गांवों की सैर करने लगे। जब भी कमला की तबीयत अच्छी होती वह और इन्दिरा भी हमारा साथ देतीं।

उन्हीं दिनों हम रोम्यां रोलां से मिले, जो जिनेवा के समीप ही विलेनव में रहते थे। अपने पिता और उस महान साहित्य-कार की बातचीत को इन्दिरा ने बड़ी गम्भीरता से—बूढ़े न्यायाधीश-जैसी तन्मयता से—सुना। वार्तालाप का विषय नौ बरस की लड़की की समझ से परे और गहन था, लेकिन मेरे भाई का विश्वास था कि प्रमुख नर-नारियों से निकट सम्पर्क इन्दिरा के लिए लाभकारी ही होगा। वह उसके दृष्टिकोण को व्यापक बनाना चाहते थे, ताकि देश के प्रति अपना कर्त्तव्य समझकर भारत के राष्ट्रीय जीवन में हम सबने जिस भूमिका को अपना रखा था उसके लिए उसे तैयार किया जा सके। ज्ञानार्जन की उसकी लगन बड़ी ही तीव्र थी और वह हमेशा

विद्वानों की बातों को बड़े ध्यान से सुनती थी। जिनेवा में वह प्रसिद्ध जर्मन कवि और नाटककार अर्न्स्ट टालर से मिली और भारत के उन पुराने निर्वासित क्रान्तिकारियों से भी, जिनमें राष्ट्र-प्रेम की ज्वाला जोरों से धधक रही थी और जो बड़े जोश-खरोश से देश को स्वतन्त्र करने की बातें करते थे। इन सम्पर्कों और मुलाकातों से उसके ज्ञान में वृद्धि होती रही।

१९२७ की गर्मियों में पिताजी यूरोप आये। उन्हें अपने साथ पाकर हम सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। अम्मां का अभाव जरूर अखरता, जो घर छोड़ने को राजी न हुईं। कमला का स्वास्थ्य काफी सुधार पर था, इसलिए हमने खूब यात्राएं कीं। पिताजी हमें लन्दन, पेरिस, स्विट्ज़रलैंड के शहर और देहात, तथा बर्लिन ले गये। वह हमेशा प्रथम श्रेणी के आरामदेह आवासों और यात्रा-साधनों को ही पसन्द करते; जवाहर की तरह नहीं कि किसी भी श्रेणी में चले गये और कहीं भी ठहर गये।

जब बर्लिन में थे तो हमें मास्को से अक्तूवर-क्रांति की दसवीं सालगिरह के उत्सव में सम्मिलित होने का निमन्त्रण मिला। पिताजी की इच्छा नहीं थी, लेकिन हमारे आग्रह के आगे अन्त में उन्हें राज़ी होना पड़ा। इन्दिरा को स्कूल भेज दिया गया, क्योंकि पिताजी की राय में उत्सव की चहल-पहल का उसके स्वास्थ्य पर बुरा असर हो सकता था। और फिर एक बच्चे को उस तरह के औपचारिक उत्सव में ले जाना हमारे मेजबानों को शायद स्वीकार भी न होता।

सोवियत समारोह बड़े ही भव्य थे। सोवियत सरकार ने

अपने अतिथियों के सम्मान में जो राजकीय भोज दिया वह तो और भी शानदार था। मेज़ पर साथ बैठे सभी मेजबानों ने अंग्रेज़ी और फ्रेंच में वार्तालाप कर हमारा मन ही मोह लिया। मास्को की हमने खूब सैर की और जितना देखा जा सकता था, देखा। सड़क चलते लोगों के चेहरों से लगता था कि उनके देश में जो परिवर्तन हुआ है उससे वे सन्तुष्ट हैं और उन्हें कोई शिकायत नहीं। हम वहां एक सप्ताह रहे।

हमारी सलाहकार अति उत्साही और नामांकित कम्यूनिस्ट सुहासिनी (सुप्रसिद्ध कांग्रेसी नेता, कवयित्री और हमारी घनिष्ठ मित्र सरोजिनी नायडू की बहन), ने जब हम बर्लिन में ही थे ऐसी उलटी पट्टी पढ़ाई कि मास्को पहुंचकर मैं और कमला भौंचक रह गईं। उस भलीमानस ने हमें बताया कि मास्को में हमारे लिए खादी की साड़ियां पहनना ही उचित होगा। इसलिए हम वही साड़ियां साथ ले गईं। लेकिन मास्को में जब हमने सुहासिनी को मदरासी रेशम की रंग-बिरंगी साड़ियां पहने उत्सव में भाग लेते देखा तो आश्चर्य का ठिकाना न रहा। मेरे झिड़कने पर उसने बड़ी अवज्ञा से जवाब दिया, "नासमझ लड़की, हम कम्यूनिस्टों के लिए यही ठीक है, मगर तुम बुर्ज़्वाओं को तो गजी-गाढ़े और खद्दर के लिबास में ही आना चाहिए।"

पिताजी को नया रूस भद्दा-भोंडा लगा, लेकिन जवाहर उस कम्यूनिस्ट राज्य को देखकर बहुत उत्साहित हुए। चौदह बरस बाद, उन्होंने जो आत्मकथा (मेरी कहानी) लिखी, उसमें समाजवाद और साम्यवाद की ओर अपने खिंचाव पर टिप्पणी करते हुए वह लिखते हैं:

"रूस को छोड़ भी दें तो मार्क्सवाद के उसूल और फलसफ़े ने मेरे दिमाग के कई अंधेरे कोनों को रोशन कर दिया। इतिहास में मुझे बिलकुल नया ही मतलब दिखाई पड़ने लगा। मार्क्सवादी व्याख्या ने उसपर काफी रोशनी डाली, और वह मेरेलिए एक के बाद दूसरा दृश्य पेश करनेवाला एक ऐसा नाटक हो गया, जिसके घटनाचक्र की बुनियाद में कुछ-न-कुछ तरतीब और मकसद मालूम हुए; फिर वे चाहे कितने ही छुपे और अनजान क्यों न हों। हालांकि बीते हुए जमाने में, और आज भी, साधनों की भयंकर बरबादी और तकलीफें भी रहीं और जारी हैं, मगर आनेवाला वक्त तो रास्ते में आनेवाले तमाम खतरों के बावजूद उम्मीदों से भरा हुआ है। मार्क्सवाद में लाजमी तौर पर किसी रूढ़ मत का न होना और उसका साइंटिफिक नजरिया (वैज्ञानिक दृष्टिकोण) ही मुझे पसन्द आया।"[1]

कुछ समय और बर्लिन तथा पेरिस में रहने के बाद, घर लौटने के इरादे से जहाज पकड़ने के लिए, हम लोग मार्सेलीज़ चले आये। (पिताजी यूरोप के कुछ और देशों की सैर के लिए थोड़ा समय वहीं रह गए।) हम लोग १९२७ के दिसम्बर में कोलम्बो पहुंचे और वहां उतरकर सीधे मदरास के लिए रवाना हुए, जहां कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हो रहा था। सारे देश में उत्साह की जैसे लहर ही आ गई थी। स्वाधीनता के लिए सर्वस्व समर्पित कर देने की भावना देशवासियों में नये जोश से उभर रही थी।

यूरोप में समाजवादी विचारकों के सम्पर्क से जवाहर को बड़ी प्रेरणा मिली थी। आदर्शवाद से अनुप्राणित वह

स्वाधीनता के अपने आन्दोलन में जी-जान से जुट गए। मदरास कांग्रेस में उनकी विचारधारा को जबर्दस्त समर्थन मिला और पूर्ण स्वाधीनता तथा साम्राज्यवाद-विरोधी उनके प्रस्ताव बड़े उत्साह से युवकों द्वारा पारित किये गए, जो भारी संख्या में कांग्रेस में शरीक हो गये थे। लेकिन गांधीजी को कोई खुशी नहीं हुई। उन्होंने जवाहर को लिखा :

"तुम बहुत तेज़ भाग रहे हो। सोचने-विचारने और देश की हालत को समझने के लिए तुम्हें थोड़ा समय देना चाहिए था।"[२]

फरवरी १९२८ में लन्दन की ब्रिटिश सरकार ने साइमन कमीशन को दिल्ली भेजा। उसे भारतीय विधान में रद्दो-बदल करने का अधिकार दिया गया था, लेकिन देश ने उसका बहिष्कार किया। कांग्रेस का दिसम्बर अधिवेशन कलकत्ता में हुआ और पिताजी पुनः अध्यक्ष चुने गए। लेकिन उनमें और जवाहर में नीति के प्रश्न को लेकर गहरा मतभेद हो गया। पिताजी नरम रुख अपनाने और औपनिवेशिक स्वराज्य (डोमिनियन स्टेटस) स्वीकार करने के पक्ष में थे और जवाहर पूर्ण स्वाधीनता की अपनी बात पर अड़े हुए थे। दोनों में थोड़ी नोक-झोंक हुई और बात यहांतक बढ़ी कि पिता-पुत्र में बोल-चाल बन्द हो गई। कांग्रेस के मंच से दोनों ने सार्वजनिक रूप से एक-दूसरे के विचारों पर प्रहार किया। अन्त में गांधीजी ने एक समझौता-प्रस्ताव पेश किया, जो स्वीकार हुआ। उसमें ब्रिटिश सरकार से कहा गया था कि अगर एक वर्ष के अन्दर भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य नहीं दिया गया, तो कांग्रेस पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय की घोषणा कर देगी।

अक्तूबर १९२९ में वाइसराय लार्ड इर्विन ने भारत में औपनिवेशिक स्वराज्य की सम्भावनाओं पर विचार करने के लिए लन्दन में एक गोलमेज़ परिषद बुलाने की घोषणा की। फौरन भारतीय नेताओं के एक गुट ने, ब्रिटिश इरादों के प्रति संशक होते हुए भी, एक नेता-परिषद (सर्व-दल-सम्मेलन) आयोजित की (जिसमें गांधीजी और पिताजी, दोनों ने ही हिस्सा लिया)। इस परिषद के घोषणापत्र में इस बात पर पुनः जोर दिया गया कि अगर एक वर्ष के अन्दर-अन्दर भारत को पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य दे दिया गया, तो ब्रिटिश सरकार से असहयोग की नीति का परित्याग कर दिया जायगा।

लार्ड इर्विन द्वारा प्रस्तावित चर्चा दिल्ली में हुई :

"पिताजी वहां थे, और भाई (जवाहर को हम इसी नाम से पुकारते थे) भी गए, लेकिन बे-मन से। गांधीजी को तो खैर जाना ही था, क्योंकि उनके बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता था। अन्य दलों और मतों के नेता भी उसमें आये। सब इस बात पर सहमत हुए कि गोलमेज परिषद की बुनियाद औपनिवेशिक स्वराज्य है। सुभाष बोस को छोड़ बाकी सभीने इस समझौते पर दस्तखत कर दिये—भाई ने पिताजी के प्रबल अनुरोध और काफी मनोमंथन के बाद ही दस्तखत किये थे। स्वयं उन्हींके शब्दों में वह 'कड़वी घूंट' थी।

"लेकिन समझौता किसी काम न आया। इंग्लैण्ड में इस सवाल पर इतना बावेला मचा कि ब्रिटिश सरकार अपनी बात से मुकर गई। बर्कनहेड, विन्स्टिन चर्चिल और लायड जार्ज जैसे कंज़रवेटिव (अनुदार) ब्रिटिश नेताओं के साम्राज्य-वादी भाषणों से भारतीय जनमत बहुत ही क्षुब्ध और कुपित

हुआ।"[3]

कांग्रेस के संभावित अध्यक्षीय उम्मीदवारों के नामों की चर्चा और किसी एक के बारे में निर्णय करने के लिए १९२९ की ग्रीष्म और शरद में कांग्रेस-समिति की कई बैठकें हुईं। सब गांधीजी को अध्यक्ष बनाना चाहते थे, लेकिन वह राज़ी न हुए; उलटे उन्होंने सदस्यों से जवाहर को चुनने का अनुरोध किया। दिसम्बर में कांग्रेस का लाहौर में अधिवेशन हुआ और पिताजी ने बड़े गर्व से कांग्रेस की बागडोर अपने बेटे के हाथों सौंपी। जोशीले नौजवानों ने, जो बड़ी तादाद में कांग्रेस में सम्मिलित हो गये थे, जवाहर के गरमागरम विचारों का बड़े उत्साह से समर्थन किया। उसी अधिवेशन में स्वाधीनता का प्रस्ताव पारित किया गया।

१९३० का नया दिन हमारे परिवार के ही लिए नहीं, जवाहर के मुंह से स्वाधीनता की घोषणा सुनने को रावी के तट पर जमा विशाल जन-समूह के लिए भी स्मरणीय और शानदार दिन था। कांग्रेस स्वयंसेवक दल की वर्दी में लैस इन्दिरा के हृदय में उत्साह समा नहीं रहा था। जब उसके पिता ने इस घोषणा को लिखा तो वह उनके पास बैठी हुई थी और उसीने उन्हें पढ़कर सुनाया था। उसके बाद अपने पिता के, सभा में उपस्थित जन-जन को अनुप्राणितकरनेवाले देशभक्तिपूर्ण इन गहन-गम्भीर शब्दों को तल्लीनतापूर्वक सुन रही थी :

"हम भारतीय प्रजाजन भी, दूसरे राष्ट्रों की तरह, अपना यह जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं कि हम स्वतंत्र होकर रहें, अपनी मेहनत का फल खुद भोगें और हमें अपने गुजर-बसर

के लिए जरूरी सुविधाएं मिलें।......हम यह भी मानते हैं कि अगर कोई सरकार जनता से इन अधिकारों को छीन लेती है और उसे सताती है, तो जनता को उस सरकार को बदल देने या मिटा देने का भी हक़ है। हिन्दुस्तान की अंग्रेजी सरकार ने भारतीयों की स्वतंत्रता को ही नहीं छीना है, उसकी बुनियाद ही गरीबों के शोषण पर रखी हुई है और उसने आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से हिन्दुस्तान को तबाह कर दिया है। इसलिए हमारा विश्वास है कि हिन्दुस्तान को अंग्रेज़ों से नाता तोड़कर पूर्ण स्वराज्य या मुकम्मिल आज़ादी हासिल कर लेना चाहिए।...

"जिस हुकूमत ने हमारे देश को इस तरह तबाह और बर्बाद किया है, उसके ताबे में रहना हमारी राय में मनुष्य और ईश्वर दोनों के प्रति गुनाह है। मगर हम यह भी मानते हैं कि हमारे लिए अपनी आज़ादी हासिल करने का कारगर रास्ता हिंसा नहीं है। इसलिए हम ब्रिटिश सरकार से, जहां-तक बन पड़ेगा, अपनी मर्ज़ी से किसी भी तरह का सहयोग न करने की तैयारी करेंगे और अपनेको सिविल नाफरमानी (सविनय अवज्ञा) और करबन्दी तक के लिए तैयार करेंगे।... इसलिए हम शपथपूर्वक संकल्प करते हैं कि पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के लिए कांग्रेस समय-समय पर जो आज्ञाएं देगी उनका पूरा-पूरा पालन करेंगे।"[४]

कांग्रेस ने जवाहर की इस घोषणा को राष्ट्र के ध्येय के रूप में स्वीकार कर लिया। २६ जनवरी को स्वाधीनतादिवस मनाने की घोषणा की गई। उस दिन कांग्रेस ने सारे देश में सभाएं कर के पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने की प्रतिज्ञा की।

गांधीजी ने जनता को सत्याग्रह करने का आदेश दिया। इस बार उसका बिलकुल नया ही रूप था। लोगों से कहा गया कि वे नमक-कानून तोड़ें। नमक बनाने का एकछत्र अधिकार सरकार के हाथ में होने के कारण कोई भी समुद्र के पानी से नमक नहीं बना सकता था। १२ मार्च, १९३० को गांधीजी ने अपनी सुप्रसिद्ध दांडी-यात्रा आरम्भ की। यह जगह अहमदाबाद से दोसौ मील के फासले पर समुद्र के किनारे एक छोटा-सा गांव है। नमक-कानून तोड़ने के लिए गांधीजी ने इसी गांव को चुना। इस यात्रा में हजारों लोग उनके साथ हो गये। ५ अप्रैल को दांडी पहुंचकर सत्याग्रही रात-भर प्रार्थना करते रहे। सवेरे गांधीजी ने समुद्र में प्रवेश किया और नमक बनाने के लिए पानी ले आये। फिर तो सारे देश में जनता ने कड़ाहियों में नमक बनाने का आन्दोलन शुरू कर दिया।

पहले तो पिताजी और जवाहर को अवज्ञा का यह ढंग बेकार ही लगा। भला नमक बनाने में क्या तुक हो सकता था! मगर बात-की-बात में यह आन्दोलन स्वतंत्रता का प्रतीक बन गया और हम सब उसमें शरीक हो गये। जवाहर के शब्दों में :

"आज यात्री अपने लम्बे रास्ते पर अग्रसर होता है। एक महान् संकल्प की उमंग से भरा हुआ और अपने देश-वासियों का असीम प्यार लिये हुए। और उसमें है प्रचण्ड सत्य-निष्ठा और अनुप्राणित करनेवाला स्वातंत्र्यप्रेम। और जो भी उसकी राह से गुजरता है, उसके जादू से प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता, और गांव-शहर के साधारण लोगों में

भी नया जोश भर गया है।"[५]

अंग्रेज़ों ने पहले इसे बचकानापन कहकर उपेक्षा की, लेकिन जैसे ही सारे देश की जनता इस आन्दोलन में शरीक हुई, खतरों के प्रति सरकार सजग हो उठी। भारत में निर्मम दमन का दूसरा दौर शुरू हुआ। शान्तिपूर्ण जुलूसों को भंग करने के लिए अध्यादेश जारी किये गए। पुलिस को जन-समूह पर लाठी चार्ज और गोलीबार करने के आदेश दे दिये गए। इस नृशंस आक्रमण ने भारतीय जनता को—यहां के स्त्री, पुरुष और बच्चों को क्रोधोन्मत्त कर दिया और ब्रिटिश सरकार का विरोध करने का उनका दृढ़ निश्चय और भी द्विगुणित हो गया।

गांधीजी, पिताजी और जवाहर-सहित हज़ारों लोग पकड़कर जेलों में ठूंस दिये गए। अब कमला, नान और मुझ-पर उन लोगों के काम का भार आ पड़ा। हम सभाएं करतीं और कांग्रेस के आदेशों का पालन भी; यहांतक कि बुढ़ापे और कमजोर स्वास्थ्य के बावजूद अम्मां ने भी पिकेटिंग किया, जलूस निकाले और पुलिस की लाठियां खाईं। कमला (जो इलाहाबाद जिला कांग्रेस की अध्यक्ष थीं) अपनी बीमारी को जैसे भूल ही गईं और सविनय अवज्ञा आन्दोलन को बढ़ाने और संगठित करने के लिए शहर और सारे जिले में दौड़-धूप करने लगीं। उनकी उमंग और अथक परिश्रम निश्चय ही वीरतापूर्ण और सराहनीय थे।

भारतीय इतिहास और पुराण वीरांगनाओं, भक्त महिलाओं, साध्वियों और देवियों के आख्यानों से भरे पड़े हैं। इन दुर्जेय महिलाओं में झांसी की रानी लक्ष्मीबाई हैं, जो सिर्फ

सौ-सवासौ साल पहले अंग्रेज़ों से लड़ी थीं; काश्मीर की महारानी दिद्दा है, जिसने मुगल आक्रमणकारियों के दांत खट्टे कर दिये थे; और दूसरी वहुत-सी वीरांगनाएं हैं, जिन्होंने लड़ाई के मैदान में दुश्मनों से मोर्चे लिये। उन महिलाओं में लीलावती-जैसी गणितज्ञ भी है, जो अपने भाई कन्नौज के महाराजा हर्षवर्धन के दरबार में उसके साथ बरावरी के दर्जे से बैठती और राज-काज निपटाती थी। और उन महिलाओं में भक्त मीराबाई भी हैं, जिनके भजन आज भी सारे भारत में श्रद्धा-भक्ति से गाये जाते हैं। हमारे धर्मशास्त्रों में अकेले शिव, कृष्ण और राम आदि पुरुष-देवताओं का ही उल्लेख नहीं है, इनके साथ हमेशा इनकी पत्नियों के भी नाम जुड़े हुए हैं और एक साथ शिव-पार्वती, राधा-कृष्ण, सीता-राम की पूजा-प्रार्थना का विधान है। हमारे धर्म में नारी और पुरुष की अविच्छिन्न एकता को अर्धनारीश्वर की कल्पना में साकार और स्वीकार किया गया है। हमारे यहां जबतक पति के साथ पत्नी नहीं बैठती, कोई भी धार्मिक कृत्य, व्रत, उत्सव या अनुष्ठान सम्पन्न नहीं होता।

गांधीजी ने भारत की महिलाओं से अपील की कि वे पुरुषों के साथ अपना सही और उचित स्थान ग्रहण करें। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि स्वतंत्रता की लड़ाई अकेले पुरुषों द्वारा नहीं जीती जा सकती। महिलाएं, जो मनुष्य-जाति का आधा भाग हैं, अपने पर लादे हुए एकान्तवास से बाहर निकलें, पुरुषों के कन्धे से कन्धा भिड़ाकर खड़ी हों और आज़ादी की लड़ाई में अपनी बराबरी की भूमिका अदा करें। उनकी इस अपील का बड़ा ही अनुकूल प्रभाव हुआ। पहले

१९२१ में थोड़ी संख्या में और फिर १९३० में काफी बड़ी तादाद में महिलाएं पुरुषों की सहायता के लिए निकल आईं। वे जुलूसों में भाग लेने, लाठी-गोली खाने और गिरफ्तार होकर जेल भी जाने लगीं। वे विदेशी कपड़े और शराब की दुकानों पर धरना देती हुई गर्मी के दिनों घण्टों धूप में खड़ी रहतीं। वे कांग्रेस संगठन में अध्यक्ष के पदों पर आसीन हुईं और उन्होंने अपने क्षेत्र के रोजमर्रा के राजनैतिक कार्यों को कुशलता-पूर्वक निबाहा।

मैं यूथ लीग (नौजवान भारत सभा) की सचिव थी और, अपने परिवार की महिलाओं में, सबसे पहले गिरफ्तार होने का सौभाग्य मुझे मिला। इन्दिरा को जेल से बाहर रह जाना अच्छा न लगा; उसने स्वयंसेवक दल में कार्य करने के लिए आवेदन किया। लेकिन वह बहुत छोटी, सिर्फ बारह बरस की थी, इसलिए उसे भर्ती न किया जा सका। तब कांग्रेस की कारंवाइयों में भाग लेने के लिए कृतनिश्चय उसने अपने ही ढंग से काम करने का फैसला किया।

उसने पास-पड़ोस के सभी गरीब-अमीर लड़के-लड़कियों को बुलाकर कहा कि मुहल्ले के तमाम बच्चों को पीछेवाले लॉन में इकट्ठा कर सभा का आयोजन करो; मैं उन्हें एक बहुत बढ़िया योजना बताऊंगी। दूसरे दिन हमारे पिछवाड़े-वाले लॉन में सैकड़ों बच्चे आ जुटे। इन्दिरा ने एक पक्के-पौढ़े नेता की तरह उनके आगे भाषण दिया। उसका सुझाव था कि जो कांग्रेस देश की आज़ादी की लड़ाई लड़ रही है उसका काम करने के लिए बच्चों का एक सेवा-दल बनाया जाय। कांग्रेस के काम में हाथ बटाने के जितने भी रहस्यपूर्ण तरीके

उसने सोचे थे, वे भी अपने बाल-श्रोताओं को बताये।

उसने कहा :

"जो कुछ मैं बता रही हूं उसे करने में खतरा तो ज़रूर है। अगर पुलिस ने हमें गिरफ्तार किया तो बड़ों की तरह जेल शायद ही भेजे, कोई और ही सज़ा दे; हो सकता है कि बेंत मारकर छोड़ दे।"

और अन्त में उसने पूछा कि क्या आप लोग मातृभूमि की सेवा के लिए तैयार हैं। यह वहां उपस्थित सभी बालक-बालिकाओं के लिए युद्ध में सम्मिलित होने का यह आह्वान था। चारों ओर जो-कुछ हो रहा था उसकी जानकारी बच्चों को थी ही और फिर स्वयं उनके माता-पिता लाठी-गोली का सामना कर रहे थे, इसलिए सब-के-सब फौरन एक स्वर से राज़ी हो गये। उनके लिए खतरा अपने-आपमें बहुत बड़ा आकर्षण था और घर के बड़े-बूढ़ों की तरह वे स्वयं भी खतरा उठाने को बेताब हो रहे थे।

इन्दिरा ने रामायण की कथा के आधार पर अपने इस संगठन का नाम 'वानर सेना' रखा। वनवास में जब रावण सीता को हर ले गया तो वानरश्रेष्ठ हनुमान ने लंका के अशोकवन में जाकर सीता का पता लगाया, वानरों की सहायता से समुद्र पर पुल बांधकर लंका पर आक्रमण किया गया और वानर-सेना की मदद से ही रावण का वध, लंका-विजय और सीता की मुक्ति हुई।

इन्दिरा ने रामायण की इस कथा का स्वाधीनता-संग्राम में व्यावहारिक उपयोग किया। उसने जो पुल बनाया वह बड़ों और बच्चों के बीच एकता का सेतु था। हजारों बच्चे उसकी

वानर-सेना में भर्ती हुए। वह उनसे कवायद-परेड करवाती और सबको अलग-अलग काम सौंपती। बच्चे झण्डे बनाने, लिफाफों पर पते लिखने, जुलूस में स्वयंसेवकों को पानी पिलाने आदि कई कामों के द्वारा कांग्रेस की मदद किया करते। कुछ निडर और हिम्मती बच्चे रात में सभाओं और जलूसों के पोस्टर चिपकाते। वे एक दल का सन्देश दूसरे दल को इतनी सावधानी और सफाई से पहुंचाते कि किसीको कानोंकान खबर न होने पाती; उनका यह काम भूमिगत पद्धति की वीरतापूर्ण मिसाल ही था। गिरफ्तारियों के लिए जब पुलिस मकानों को घेर लेती तो ये बच्चे बड़े भोलेपन से अन्दर-बाहर दौड़ा करते। पुलिस यह सोचकर उनकी ओर कोई ध्यान न देती कि कुतूहलप्रिय बच्चे तमाशा देखने की गरज से आ जुटे हैं और अपनी बालसुलभ चंचलता के कारण भाग-दौड़ कर रहे हैं। उन्हें क्या पता कि बच्चे कांग्रेस की महत्त्वपूर्ण सूचनाएं जुबानी पहुंचाने का काम करते थे।

बाद में इन्दिरा से इस वीरता और साहसपूर्ण कार्य के बारे में अक्सर पूछा जाता रहा है। उसीके शब्दों में सफलता के कारण ये थे:

"पुलिस-घेरे के बाहर-भीतर उछल-कूद करनेवाले बच्चे पर कोई ध्यान न देता। इस बात की ओर किसीका खयाल भी न जाता कि वह कोई महत्वपूर्ण काम भी कर सकता है। और बच्चा था कि सन्देश-सूचना को रट-रटाकर सम्बन्धित लोगों के पास पहुंच जाता और कहता: 'सुनिए, आपको यह करना है और यह नहीं करना है। पुलिस दल-बल के साथ यहां पहुंच गई है। फलां-फलां साहब गिरफ्तार किये जाने-

वाले हैं। या और जो भी खबर होती वह पहुंचा देता।

"इसी तरह हम लोग भेदिये का काम भी करते थे। थाने के सामनेवाले हिस्से में बैठे सिपाही अक्सर आपस में बातें किया करते कि आज कहां तलाशी होगी, कौन गिरफ्तार किया जायगा, आदि। और बाहर कबड्डी या कौड़ी काड़ा खेल में लगे चार या पांच बच्चों की ओर उनमें से किसीका ध्यान न जाता। और इस तरह बच्चे आन्दोलन में लगे लोगों तक खबर पहुंचाया करते।"[६]

आज़ादी का आन्दोलन दिनोंदिन ज़ोर पकड़ता गया और उसके साथ ही गिरफ्तारियों की तादाद भी बढ़ती गई। पिताजी और जवाहर नैनी-जेल में थे। कांग्रेस कार्यकारिणी को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया था। जो नेता गिरफ्तार हो जाते, वे अपनी जगह दूसरों को समिति का सदस्य नियुक्त कर जाते और पुलिस उन्हें भी गिरफ्तार कर लेती। इस तरह कमला और दूसरी बहुत-सी औरतें कार्यकारिणी की सदस्य बनीं। जिस नये भारत का आविर्भाव हो रहा था उसमें महिलाएं अपना उपयुक्त स्थान ग्रहण करती जा रही थीं और इसके लिए पुरुषों ने उनका स्वागत और प्रशंसा ही की। स्वयं जवाहर ने अपने आत्मचरित 'मेरी कहानी' में महिलाओं के इस कार्य के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित की है :

"हमें अपनी जनता और खासतौर पर अपनी महिलाओं पर गर्व था। मैं अपनी माता, पत्नी और बहिनों तथा कई चचेरी बहिनों और महिला मित्रों के कार्यों से बहुत ज्यादा सन्तुष्ट और खुश था।......एक महान् कार्य में साथी होने

की नई भावना से जुड़े हुए हम एक-दूसरे के बहुत करीब आ गए थे। ऐसा लगता था कि परिवार एक ज्यादा वड़े समूह में विलीन हो गया है और फिर भी अपनी पुरानी लज्जत और घनिष्ठता को बरकरार रखे हुए है।"७

और इस तरह हमारे परिवार के सभी छोटे-बड़े सदस्य उस आन्दोलन में अपना योगदान कर रहे थे। हमारी कार्रवाइयों की उड़ती खबरें पिताजी को जेल में मिलीं और उन्होंने १६ जुलाई, १६३० को परिवार के नाम एक गश्ती चिट्ठी लिखी (बन्दियों को महीने में सिर्फ एक पत्र लिखने की इजाजत थी, इसलिए पिताजी सबको एक साथ गश्ती चिट्ठी के जरिए लिखा करते थे) :

हुजूरसाहब (नौकर अम्मां को इसी नाम से पुकारते थे, इसलिए पिताजी भी मज़ाक में इसी सम्बोधन का प्रयोग करते थे): "अपने बूढ़े हाड़ों पर आप कुछ ज्यादती ही कर रही हैं। अगर स्वराज्य को अपनी जिन्दगी में कायम होते देखना चाहती हैं तो बेचारी बूढ़ी हड्डियों पर थोड़ा रहम फरमाइए।"

कमला : "तुम्हारा खत उतना मुकम्मिल नहीं है जितनी मुझे उम्मीद थी और अपनी सेहत के बारे में तुमने कुछ नहीं बताया। डा० मर्स की सलाह के मुताबिक ठीक से अपना इलाज कर रही हो न ? जो डेपुटेशन हमसे मिलने के लिए आना चाह रहा है, उसे अन्देशा है कि नाउम्मीद ही लौटना होगा। स्वराज्य भवन किन लोगों के हाथ में है ? इस बात का खयाल रहे कि वह मकान लापरवाही का शिकार न हो जाय।"

नान : "लगता है कि 'दावतनामे' के लिए तुम बहुत

बेकरार हो रही हो। अगर तुम्हें हमारे साथ रखा जा सके, तो उसमें कोई तुक भी है, मगर यह मुमकिन नहीं। जल्दबाजी में दावतनामा मंजूर करके तुम पीछेवालों की मुश्किलों में इजाफ़ा ही करोगी। अगर वक्तसर वह आये, जैसाकि देर-सवेर तुम सभी के लिए—मेरा मतलब है बीवी मां और बच्चों को छोड़कर बाकी सबके लिए—आयगा ही तो फिर बिला शक कोई चारा नहीं रह जाता। मगर तुम्हें अपने तईं कोई जल्दबाजी नहीं करना चाहिए।"

बेट्टी (मेरा घर का नाम) : "क्या बात है, बेगमसाहबा, इस हफ्ते तुमने हमें एक सतर तक नहीं लिखी? खत लिखनें में तो तुम्हें खूब महारत हासिल है। अपने गरीब बाप को अपनी इस खुसूसियत से महरूम क्यों रखती हो? उम्मीद तो यही करता हूं कि तुम भली-चंगी हो, वर्ना किसी-न-किसी ने तो जरूर ही बताया होता कि नहीं हो। दावतनामे के बारे में जो एहतियात नान को बरतने के लिए कहा है वही तुम्हारे बारे में भी दोहराना चाहता हूं। खत लिखना—अपने मीठे प्यारे ढंग से, जिसकी कि तुम आदी हो।"

इन्दु (इन्दिरा) : "वानर-सेना में तुम्हारी हैसियत क्या है? मेरा सुझाव है कि हर मेम्बर के दुम होनी चाहिए और वह उसके ओहदे के लिहाज से लम्बी-छोटी हो। बिल्ले पर हनुमान की छाप ठीक है, मगर हनुमानजी के हाथ में रहनेवाली गदा का न होना ही मुनासिब है। याद रखो कि गदा का मतलब होता है हिंसा, और हम लोग अहिंसक फौज हैं। तुम लोगों को कवायद-परेड की तालीम देनेवाला कोई है या नहीं? यह बहुत जरूरी है। तुम्हें अपने-आपको चुस्त-दुरुस्त

भी रखना होगा। दौड़ने की मश्क करती रहो। पापू (उसके पिताजी) रोज़ सवेरे दो मील की दौड़ लगाते हैं। तुममें बिना रुके कम-से-कम एक मील दौड़ने का माद्दा तो होना ही चाहिए। धीरे-धीरे फासला बढ़ाती जाओ। मैं अपने बागीचे के उस ढाल पर, जो नीचेवाली जमीन को दूसरे हिस्सों से जुदा करता है, घूमता था और उसे मैंने नपवाया भी था, मगर नाप याद नहीं रहा। तुम फिर से उसका नाप करवा लेना और मालूम करना कि उसके कितने फेरे करने से एक मील बनता है। फिर दौड़ते हुए उसके दो या तीन फेरे करो, जितना तुम आसानी से बिना थके और बिना दम फूले कर सको। धीरे-धीरे फेरों को बढ़ाती जाओ, मसलन हर दूसरे या तीसरे दिन आधे फेरे के हिसाब से। इस तरह तुम जल्दी ही बिना थके या बिना दम फूले एक मील तक दौड़ने लगोगी।"[७]

—मोतीलाल नेहरू

जेल-जीवन के तनावों और कष्टों का परिणाम होना ही था और आखिर वह हुआ। जवाहर बराबर पिताजी की सेवा-टहल में लगे रहते (क्योंकि दोनों की कोठरियां पास-पास थीं), मगर उनका स्वास्थ्य तेजी से गिरता ही गया और सितम्बर में उन्हें रिहा कर दिया गया। अम्मां, नान और मैं उन्हें स्वास्थ्य-सुधार के लिए मसूरी ले गईं। कमला इलाहाबाद में कांग्रेस की गतिविधियों में लगी हुई थीं, इसलिए वह और इन्दिरा घर पर ही रहीं। कुछ हफ्तों बाद, जब जवाहर भी रिहा हो गये तो वह और कमला हमारे पास मसूरी आ गए। लेकिन जब हम लौटकर इलाहाबाद आये तो जवाहर को एक भाषण देने के अपराध में पुनः गिरफ्तार कर के ढाई

वरस की सजा ठोंक दी गई।

सारे देश में इस गिरफ्तारी और सजा के विरोध में सभाएं हुई। एक सभा में अम्मां, नान और मैं भी गई, जिसमें कमला ने वह पूरा भाषण पढ़कर सुनाया जिसके लिए जवाहर को इतनी लम्वी सजा दी गई थी। नतीजा यह हुआ कि वह भी गिरफ्तार कर ली गई।

१९३१ की जनवरी खत्म होते-होते पिताजी की हालत वहुत खराव हो गई। वह अव-तव के मेहमान हो गये। कमला, जवाहर, गांधीजी, रणजीत (नान के पति) और कांग्रेस कार्य-कारिणी के सभी सदस्य रिहा कर दिये गए। पिताजी ने बैठकर सवका स्वागत किया। यद्यपि उन्हें वहुत तकलीफ हो रही थी, लेकिन अपार आत्म-वल के कारण उन्होंने हम सवसे शान्तिपूर्वक वातें कीं और वरावर होश में रहे।

"मनुष्य खुद देवदूतों के आगे हार नहीं मानता और न वह मौत के सामने ही पूरी तरह सिर झुकाता है। वह हार मानता है तो अपनी क्षीण इच्छा-शक्ति की कमजोरी की वजह से ही मानता है।"　　**—एडगर एलन पो**

□　□　□

पिताजी की मृत्यु ६ फरवरी को हुई। उस महान् शोक में गांधीजी ने अम्मां को सान्त्वना दी। हम सव भी उस महान् पिता और दादा के न रहने से वहुत दुःखित थे। यही खयाल आता कि अव आनन्द भवन उनके प्रसन्न ठहाकों से कभी न गूंजेगा। लेकिन इतना सन्तोष जरूर था कि वह हमारे लिए साहस और दुर्वलता के सामने नतमस्तक न होने की बड़ी ही गौरवशाली विरासत छोड़ गए हैं।

२९ अप्रैल, १९३१ को जवाहर ने इन्दिरा को दिलासा देते हुए एक पत्र लिखा था (उस दिन वह अपने पिता और माता के साथ श्रीलंका जानेवाले जहाज पर थी) :

"हम उनके लिए शोक करते हैं और कदम-कदम पर उनकी कमी को महसूस करते हैं। दिन गुजरते जाते हैं, लेकिन न तो दुःख कम होता दीखता है और न उनके विछोह की असह्यता ही। लेकिन फिर सोचता हूं कि हमारा ऐसा आचरण उन्हें कभी पसन्द न आता। उन्हें यह हर्गिज़ पसन्द न होता कि हम दुःख से पस्त हो जायं। वह तो यही चाहते कि जैसे उन्होंने अपनी तकलीफों का मुकाबला किया, हम भी वैसा करें और उनपर विजय पायें। वह यही चाहते कि हम उनके अधूरे छोड़े हुए काम को जारी रखें। जब काम हमें पुकार रहा है और भारत को आज़ादी का मसला हमारी सेवाओं की मांग कर रहा है, हम चुप कैसे बैठ सकते हैं और व्यर्थ के शोक के सामने सिर कैसे झुका सकते हैं ? इसी उद्देश्य के लिए उन्होंने जान दी। इसी उद्देश्य के लिए हम जिन्दा रहेंगे, कोशिश करेंगे, और अगर जरूरत हुई तो जान भी दे देंगे। आखिर हम उनकी सन्तान हैं और हममें उनकी लगन, ताकत और दृढ़ निश्चय का कुछ-न-कुछ अंश मौजूद है।"[८]

६

जेल की कोठरी से पिता द्वारा इतिहास की शिक्षा

•

इन्दिरा कुछ दिनों दिल्ली के एक कान्वेंट स्कूल में पढ़ी और फिर इलाहाबाद के एक स्कूल में जाने लगी। लेकिन स्कूलों में उसकी नियम से लगातार शिक्षा न हो सकी। जवाहर जेल से पत्र लिख-लिखकर उसकी शिक्षा की पूर्ति करते रहे। उसके विचारों और ज्ञान को दिशा देने के इरादे से उन्होंने उसकी दसवीं वर्षगांठ के दिन से उसे पत्र लिखना शुरू किया था (जो बाद में इलाहाबाद के एक प्रकाशक द्वारा 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' पुस्तक के रूप में प्रकाशित किये गए)। और चूंकि जवाहर उसे इतिहास का रसास्वादन कराना चाहते थे, इसलिए पत्रों की दूसरी किस्त में उन्होंने दुनिया की तमाम घटनाओं का—आदि मानव से वर्तमान सभ्यताओं तक का वर्णन किया है।

"दुनिया ने कैसे आहिस्ता-आहिस्ता लेकिन निश्चित रूप से तरक्की की है। दुनिया के आरम्भ के सरल जीवों की जगह पर ज्यादा उन्नत और पेचीदा जीव कैसे आ गए और कैसे सबसे आखीर में जीवों का सिरताज आदमी पैदा

हुआ और अपनी बुद्धि के जोर पर विजय पाई।"[1]

इन्दिरा अपने पिता के पत्रों को प्यार करती थी। वे पत्र उसे हमारे पुस्तकालय की पुस्तकें पढ़ने को प्रेरित करते थे। लम्बी-लम्बी टांगों वाली दुबली-पतली, गम्भीर और संकोची स्वभाव की वह किशोरी देखने में सुकुमार लगती थी। कोई भी बात हो, वह मेरे पास दौड़ी आती, मानों सहारे के लिए मुझी पर निर्भर करती हो और आशा है, इसमें कोई परिवर्तन न होगा।

१९३० में जवाहर ने, पुनः नैनी जेल से, उसे एक स्मरणीय पत्र लिखा :†

"इन्दिरा प्रियदर्शिनी के नाम,

उसके तेरहवें जन्म दिन पर—

"अपनी साल गिरह के दिन तुम बराबर उपहार और शुभकामनाएं पाती रही हो। शुभकामनाएं तो तुम्हें अब भी बहुत-सी मिलेंगी, लेकिन नैनी जेल से मैं तुम्हारे लिए कौन-सा उपहार भेज सकता हूं? मेरे उपहार बहुत वास्तविक या ठोस शकल के नहीं हो सकते। वे तो हवा के समान सूक्ष्म ही होंगे। जिनका मन और आत्मा से सम्बन्ध हो—ऐसा उपहार शायद तुम्हें कोई नेक परी ही दे सके—और जिन्हें जेल की ऊंची दीवारें भी नहीं रोक सकें।

"प्यारी बेटी, तुम जानती हो कि उपदेश देना और नेक सलाह बाँटना मुझे कितना नापसन्द है।...इसलिए मेरा हमेशा से यह विश्वास रहा है कि यह जानने के लिए कि क्या सही

† इन पत्रों का हिन्दी अनुवाद 'विश्व-इतिहास की झलक' नाम से सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली ने प्रकाशित किया है।

है और क्या नहीं; क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। सबसे अच्छा तरीका यह नहीं है कि उपदेश दिया जाय बल्कि सही तरीका यह है कि बातचीत और चर्चा की जाय, क्योंकि अक्सर ऐसी चर्चाओं में से कुछ-न-कुछ सचाई निकल आती है।

"इसलिए अगर मेरी कोई बात तुम्हें उपदेश-जैसी जान पड़े तो उसे कड़वी घूंट मत समझना। यही समझना कि मानों हम दोनों सचमुच बातचीत ही कर रहे हैं और मैंने तुम्हारे सामने विचार करने को कोई सुझाव रखा है...

"जिस साल तुम्हारा जन्म हुआ, अर्थात् सन १९१७, वह इतिहास का एक बहुत प्रसिद्ध वर्ष है। इसी साल एक महान नेता ने, जिसके हृदय में गरीबों और दुःखियों के लिए बहुत प्रेम और हमदर्दी थी, अपनी कौम के हाथों से ऐसा ऊँचा काम करवा लिया, जो इतिहास में अमर रहेगा। उसी महीने में, जिसमें तुम पैदा हुई, लेनिन ने उस महान क्रान्ति को शुरू किया था, जिससे रूस और साइबेरिया की काया पलट हो गई और आज भारत में भी एक दूसरे महान नेता ने, जिसके हृदय में मुसीबत में फंसे और दुःखी लोगों के लिए दर्द है और जो उनकी सहायता के लिए बेताब हो रहा है; हमारे देश-वासियों में महान प्रयत्न और उच्च बलिदान करने के लिए नई जान डाल दी है, जिससे हमारा देश फिर आज़ाद हो जाय और भूखे, ग़रीब और पीड़ित लोग अपने पर लदे हुए बोझ से छुटकारा पा जायं।......भारत में आज हम इतिहास का निर्माण कर रहे हैं। हम और तुम बड़े खुश किस्मत हैं कि ये सब बातें हमारी आंखों के सामने हो रही

हैं, और इस महान नाटक में हम भी कुछ हिस्सा ले रहे हैं।...

"मैं नहीं कह सकता कि हम लोगों के जिम्मे कौन-सा काम आयगा; लेकिन जो भी काम आ पड़े, हमें यह याद रखना चाहिए कि हम ऐसा कुछ नहीं करेंगे, जिससे हमारे उद्देश्यों पर कलंक लगे और हमारे राष्ट्र की बदनामी हो... सही क्या है और गलत क्या है, यह तय करना आसान काम नहीं होता। इसलिए जब कभी तुम्हें शक हो तो ऐसे समय के लिए तुम्हें एक छोटी-सी कसौटी बताता हूं। शायद इससे तुम्हें मदद मिलेगी। कोई काम खुफिया तौर पर मत करो, और न कोई ऐसा काम करो जिसे तुम्हें दूसरों से छिपाने की इच्छा हो; क्योंकि छिपाने की इच्छा का मतलब है कि तुम डरती हो और डरना बुरी बात है और तुम्हारी शान के खिलाफ है।......

"प्यारी नन्हीं, अब तुमसे विदा लेता हूँ, और कामना करता हूँ कि बड़ी होकर भारत की सेवा के लिए एक बहादुर सिपाही बनो।"[२]

और इन्दिरा "बड़ी होकर भारत की सेवा के लिए एक बहादुर सिपाही बनी।"

१९३१ के नये साल के नये दिन जो पत्र लिखा गया, उसमें जवाहर ने इतिहास पर कुछ और चिन्तन करते हुए विछोहजनित एकाकीपन पर मर्मस्पर्शी टिप्पणी की है :

"इतिहास एक सिलसिलेवार मुकम्मिल चीज़ है, और जबतक तुम्हें यह मालूम न हो कि दुनिया के दूसरे हिस्सों में क्या हुआ, तुम किसी एक देश का इतिहास समझ ही नहीं सकतीं।...हमेशा याद रखो कि अलग-अलग देशों के लोगों

में इतना ज्यादा फर्क नहीं होता जितना लोग समझते हैं।

"....मुझे तुम्हारी मम्मी का और तुम्हारा खयाल आया। इसके बाद सवेरा होने पर खबर मिली कि तुम्हारी मम्मी गिरफ्तार कर ली गईं।...और मुझे इसमें कोई शक नहीं कि मम्मी बिलकुल प्रसन्न और सन्तुष्ट होंगी।

"लेकिन तुम अपने आपको अकेली अनुभव कर रही होगी। पन्द्रह दिन में तुम एक दफ़ा मुझसे और एक दफ़ा अपनी मम्मी से मिल सकोगी और हम दोनों के संदेसे एक-दूसरे को पहुँचा दिया करोगी। लेकिन मैं तो कलम और कागज लेकर बैठ जाया करूँगा और तुम्हारा ध्यान किया करूँगा। तब तुम चुपके से मेरे पास आ बैठोगी, और हम एक-दूसरे से बहुत-सी चीज़ों के बारे में बातचीत करेंगे। हम गुजरे हुए जमाने का स्वप्न देखेंगे और भविष्य को बीते हुए जमाने से ज्यादा शानदार बनाने की तरकीबें सोचेंगे।"[3]

पिताजी की बीमारी के कारण जवाहर जेल से रिहा कर दिये गए, इसलिए उनके पत्र लिखने का यह सिलसिला कुछ समय के लिए रुक गया। पिताजी की मृत्यु के तुरंत बाद गांधीजी लार्ड इर्विन से बातचीत करने के लिए दिल्ली गए। उनके बीच सुप्रसिद्ध दिल्ली-समझौता हुआ—जो गांधी-इर्विन समझौता' कहलाता है। उस समझौते से हममें से कइयों को घोर निराशा हुई, क्योंकि उसके कारण सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित कर दिया गया था। और यों हमारे महान् संघर्ष का सारा जोश और उल्लास समाप्त हो गया।

कराची में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ उसमें गांधीजी ने समझौते की धाराओं का खुलासा किया और जवाहर ने

उसके समर्थन में एक प्रस्ताव भी रखा। लेकिन अपने भाषण में उन्होंने समझौते के प्रति अपने संशय भी अभिव्यक्त किये।

कराची-कांग्रेस के बाद, जवाहर का स्वास्थ्य इतना खराब हो गया कि डाक्टरों ने आराम करने और आबहवा बदलने की सलाह दी। कमला और इन्दिरा के साथ श्रीलंका में एक महीने की छुट्टी मनाने के लिए वह जहाज के रास्ते बम्बई से रवाना हुए। ग्यारह महीने के बाद जवाहर फिर जेल में बन्द कर दिये गए और उन्होंने इन्दिरा के लिए इतिहास की झलक के पत्रों का सिलसिला पुनः प्रारम्भ किया। पहले ही पत्र में उन्होंने उस 'शानदार छुट्टी' की मधुर स्मृतियों का भावुकतापूर्ण उल्लेख किया है। कमला और इन्दिरा के साथ बिताये उन आनन्ददायी दिनों की स्मृति ने अपनी बेटी को पत्र लिखने की उनकी इच्छा को और भी बलवती कर दिया था।

इस बीच सविनय अवज्ञा आन्दोलन फिर शुरू हो गया था। गांधीजी अभी दूसरी गोलमेज परिषद में भाग लेकर लन्दन से लौट भी नहीं पाये थे कि हमारे कई नेता समझौता भंग करने के आरोप में गिरफ्तार कर लिये गए और कांग्रेस को गैर-कानूनी कर दिया गया। कमला उन दिनों बम्बई में बीमार पड़ी थीं और आन्दोलन में भाग न ले पाने के कारण खूब कसमसाती रहीं। नान और मैं आन्दोलन में जी-जान से जुट गईं, गिरफ्तार हुईं और पन्द्रह महीने की सजा हो गई। अम्मां ने एक जलूस का नेतृत्व किया और पुलिस की लाठियों से बुरी तरह घायल हुईं—पुलिस ने निशाना साधकर बार-बार उनके सिर पर लाठियां बरसाई थीं।

घर पर इन्दिरा और नान की तीनों छोटी बच्चियों की पढ़ाई की समस्या उठ खड़ी हुई। स्वराज्य भवन (कांग्रेस के मुख्यालय) पर सरकार ने कब्जा कर लिया था और आनन्द भवन को भी जब्त करने की अफवाह जोरों पर थी। गांधीजी ने पूना के एक बोर्डिंग स्कूल का नाम सुझाया—'प्युपिल्स ओन स्कूल', जिसे उनके परिचित वकील नाम के एक राष्ट्रवादी पारसी दम्पती चलाते थे। इसलिए चारों लड़कियों को पूना भेज दिया गया।

शुरू-शुरू में तो इन्दिरा को वहां ज़रा भी अच्छा न लगा। घर की खूब याद आती। रात में बिस्तर में मुंह छिपाकर रोया करती। लेकिन श्रीमती वकील के स्नेहपूर्ण व्यवहार के कारण धीरे-धीरे चित्त की अशान्ति और उदासी दूर होती गई। फिर यह खयाल भी था कि घरवाले सुनेंगे तो क्या कहेंगे—अपनी बेटी की इस दुर्बलता को वे धिक्कारते ही, और पिता के पत्र भी बराबर इस बात की याद दिलाते रहते कि उसे घर के दूसरे लोगों का खयाल रखना और उनसे अच्छा व्यवहार करना चाहिए। इसलिए जल्दी ही वह छोटे बच्चों की देख-भाल करने लगी—उन्हें कपड़े पहनाती, बाल ओंछ देती और उनकी पढ़ाई में मदद करती।

वह स्वयं बड़ी सजग, कड़ा परिश्रम करनेवाली और कुशाग्रबुद्धि छात्रा थी। खासतौर पर अंग्रेजी भाषा, इतिहास और फ्रेंच भाषा का, जो उसने स्विट्ज़रलैण्ड में सीखी थी, उसका ज्ञान बहुत अच्छा था। बहुश्रुत (खूब पढ़ा था और राजनैतिक जानकारी भी प्रचुर मात्रा में थी) और नेतृत्वगुण-सम्पन्न (जैसाकि वानर-सेना के प्रसंग में बताया जा चुका

है) होने के कारण उसने स्कूल के सांस्कृतिक कार्यक्रमों में अपनी ओर से बहुत योग दिया। वह खेल-कूद में भाग लेती और स्कूल की ओर से खेले जानेवाले नाटकों में उसने अभिनय भी किये। वह शिक्षकों और छात्रों दोनों में ही समान रूप से और बहुत लोकप्रिय हो गई। उसके राजनतिक ज्ञान और वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में उसकी श्रेष्ठता के परिणामस्वरूप स्कूल में नकली (मॉक) पार्लमेंट का जो आयोजन किया गया, उसकी वह प्रधानमन्त्री चुनी गई थी।

इन्दिरा और उसकी तीनों फुफेरी बहनें पूना की यरवदा-जेल में गांधीजी से भेंट करने भी गई थीं। सितम्बर १९३२ में उन्होंने ब्रिटिश सरकार द्वारा दलित जातियों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार देने सम्बन्धी साम्प्रदायिक निर्णय के विरुद्ध जेल में आमरण अनशन शुरू कर दिया था। इस सामाजिक अन्याय ने, जिसे अंग्रेज़ों ने बहुत बड़ा राजनैतिक मसला बनाना चाहा था, देश की जनता को जगा दिया और सारे राष्ट्र में एक जबर्दस्त हलचल शुरू हो गई। कांग्रेस छुआछूत मिटाने के काम में लग गई। गांधीजी के उपवास की बदौलत 'पूना-पैक्ट' अस्तित्व में आया। देशव्यापी उग्र आन्दोलन से घबराकर ब्रिटिश मंत्रिमण्डल को पूना पैक्ट स्वीकार करना पड़ा और गांधीजी का उपवास समाप्त हुआ।

जब चारों लड़कियां मिलने के लिए आईं तो अपनी बेटी के लिए जवाहर की सतत उत्कण्ठा का खयाल कर गांधीजी ने उन्हें तार किया: "इन्दु (और) स्वरूप की बच्चियों से मिला। इन्दु खुश दिखाई दी और कुछ तगड़ी थी। खूब मज़े में है।"

१९३३ के आरम्भ में नान और मैं जेल से रिहा हुईं। पहले तो हम दोनों अम्मां के साथ कमला को देखने के लिए कलकत्ता गईं, जो वहां इलाज करवा रही थीं। उसके बाद हम लोग पूना गईं और वहां नान की लड़कियों और इन्दिरा के साथ एक हफ्ता हँसी-खुशी से बिताया।

जवाहर की दो बरस की सजा की अवधि पूरी होने को आई और उसके साथ ही विश्व इतिहास की झलक देनेवाले पत्रों का सिलसिला भी खत्म हुआ। ९ अगस्त, १९३३ को उन्होंने इन्दिरा के नाम इस शिक्षा-माला का अन्तिम पत्र भेजा, जो बहुत ही सुन्दर और कई राजनेताओं, दार्शनिकों तथा कवियों के उद्धरणों से भरा हुआ है :

"प्यारी बेटी, हमारा काम खत्म हुआ। इस लम्बी कहानी का अन्त आ गया। अब मुझे आगे कुछ नहीं लिखना है; परन्तु धूमधाम से पूर्णाहुति की इच्छा मुझे एक और पत्र लिखने को प्रेरित करती है—यही अन्तिम पत्र है!...

"विश्व के सौन्दर्य को सराहना तथा विचार और कल्पना के जगत में विचरण करना आसान है। लेकिन इस तरह दूसरों की तकलीफों से कतराने की कोशिश करना और इस बात की फिक्र न करना कि दूसरों पर क्या बीतती है, न तो साहस का लक्षण है और न सहानुभूति की भावना का ही। विचार तभी सार्थक है जब वह कर्म के रूप में प्रकट हो। 'कर्म ही विचार की अन्तिम परिणति है।' हमारे मित्र रोम्याँ रोलाँ ने कहा है, 'जो विचार कर्म की ओर प्रवृत्त न हो, वह सब-का-सब निरर्थक और महज विश्वासघात है। इसलिए, अगर हम विचार के दास हैं तो हमें कर्म के भी दास होना चाहिए।'...

"हमारा काम खत्म हुआ, प्यारी बिटिया, और अब यह अन्तिम पत्र भी समाप्त होता है। अन्तिम पत्र ! नहीं, कभी नहीं ! मैं तुम्हें जाने कितने पत्र और लिखूंगा। मगर यह सिलसिला खतम होता है, इसलिए,

तमाम शुदा !"[५]

घर लौटते ही जवाहर को एक नई पारिवारिक समस्या से जूझना पड़ा। मैंने नान से उन्हें यह बताने को कह दिया था कि मैंने अपने भावी पति का चुनाव कर लिया है। यह सुनकर भाई की जो प्रतिक्रिया हुई, उसका वर्णन मैं अपनी पुस्तक 'कोई शिकायत नहीं'[1] में कर चुकी हूं :

"जवाहर ने मुझसे राजा के बारे में बड़े ही विशिष्ट ढंग से बात की। आंखों में प्रसन्न मुस्कराहट के साथ उन्होंने कहा, 'अच्छा तो प्यारी बहन, मैंने सुना है कि तुम शादी करने की सोच रही हो। क्या उस युवक के बारे में मुझे कुछ बता सकती हो ?' पहले तो मैं सकपका गई, लेकिन फिर कहा कि जरूर बताऊंगी। जवाहर ने पूछा कि राजा क्या करते हैं। मैंने कहा कि बैरिस्टर हैं और अभी-अभी वकालत शुरू की है। फिर जवाहर ने राजा के परिवार के बारे में पूछा तो मुझे कहना पड़ा कि उसके बारे में तो मैं कुछ भी नहीं जानती।... जवाहर ने किसी क़दर परेशानी के कहा, 'क्या वाहियात बात करती हो !'[६]

पर भाई अपने होनेवाले बहनोई से मिलने के लिए फौरन बम्बई दौड़े गए और लौटकर अपनी स्वीकृति दे दी। राजा

---

[1] यह पुस्तक हिन्दी में 'सस्ता साहित्य मंडल' नई दिल्ली से प्रकाशित हुई है।

हठीसिंग और मेरी शादी आनन्द भवन में २० अक्तूबर, १९३३ को हुई।

जवाहर को मालूम था कि उनका अधिक दिन जेल से बाहर रहना न हो सकेगा। जितने दिन बाहर रहे उसमें उन्हें दो काम करने का अवसर मिल गया। एक तो कमला के साथ ज्यादा-से-ज्यादा समय गुजार सके और दूसरे, इन्दिरा की आगे की शिक्षा का प्रबन्ध कर सके। "मैं इस बात के सख्त खिलाफ हूं कि वह किसी सरकारी या अर्द्ध-सरकारी विश्वविद्यालय में भर्ती हो।" उन्होंने लिखा था, "मुझे वे नापसन्द हैं, और उनका पूरा तौर-तरीका दफ्तरी, सख्त, बेरहम और निरंकुश होता है।"[७]

१९३४ के जनवरी महीने में वह कमला के इलाज के बारे में डाक्टरों से सलाह-मशविरा करने के लिए कमला को साथ लेकर कलकत्ता गए। कलकत्ता से वे लोग रवीन्द्रनाथ ठाकुर से मिलने और उनके द्वारा स्थापित विश्वविद्यालय को देखने के लिए भी शान्तिनिकेतन गए। उन्होंने इन्दिरा को वहीं भर्ती कराने का फैसला किया।

पूना में 'प्युपिल्स ओन स्कूल' की तीन साल की नियमित पढ़ाई से इन्दिरा को बहुत लाभ हुआ। १९३४ में उसने मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास की और शान्तिनिकेतन में भर्ती हो गई। इस महान अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय में साहित्य, संगीत, कला और नृत्य पर खास ध्यान दिया जाता था। सारी दुनिया के विद्यार्थी वहां शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। वहां का जीवन बड़ा ही संयमित और सादगीपूर्ण था। विद्यार्थियों को खुद ही अपने कमरों की सफाई और दूसरे

घरेलू काम करने पड़ते थे। इन्दिरा की रुचि कला और नृत्य की ओर हुई। उसने मणिपुरी नृत्य सीखा और रवि बाबू की एक नृत्य नाटिका में एकल नृत्य भी किया।

शान्तिनिकेतन में इन्दिरा का पहला साल अभी पूरा हो ही रहा था कि उसे अकस्मात् वहां की पढ़ाई छोड़नी पड़ी। कमला की हालत बहुत खराब हो गई थी और डाक्टरों ने जर्मनी के बेडनवीलर सेनीटोरियम में चिकित्सा कराने की सलाह दी। जवाहर जेल में थे, इसलिए इन्दिरा का अपनी बीमार मां के साथ परदेश जाना जरूरी हो गया। रवि बाबू ने जवाहर को लिखा :

"खिन्न मन से ही हमने इन्दिरा को विदा किया है, क्योंकि वह यहां हमारे लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो रही थी। मैंने उसे बहुत ध्यान से देखा है और जिस प्रकार आपने उसका लालन-पालन किया वह निश्चय ही प्रशंसनीय है। उसके सभी शिक्षक एक स्वर से उसकी प्रशंसा करते हैं और छात्र-समुदाय की भी वह अत्यन्त प्रियपात्र है। आशा करता हूं कि सब शुभ ही होगा और वह यहां शीघ्र लौटेगी।"[८]

अपने जीवन में शान्तिनिकेतन के योगदान को इन्दिरा स्वीकार करती है, क्योंकि रवि बाबू ने उसे कला और कविता से प्यार करना सिखलाया।

७

"हमारे सुख के सपने सारे..."

•

१६३३ के अगस्त महीने की आखिरी तारीख से लेकर १२ फरवरी, १६३४ तक—पूरे पांच महीने और तेरह दिन, कमला और जवाहर साथ-साथ रहे। इन खुशियों भरे महीनों में जो उन्होंने कलकत्ता में, रवि बाबू के साथ शान्तिनिकेतन में और इलाहाबाद में बिताये, दोनों एक-दूसरे के बहुत निकट और प्रिय हो गये थे। कमला बहुत प्रसन्न थीं और लगता था जैसे तबीयत बिलकुल ठीक हो गई है।

लेकिन जवाहर फिर जेल में ठूंस दिये गए। इस बार उन्हें पहले कलकत्ता के अलीपुर-जेल में रखा गया और फिर वहां से ७ मई को उनका देहरादून तबादला कर दिया गया। देहरादून की जेल में ही उन्होंने अपना आत्मचरित—'मेरी कहानी लिखना शुरू किया—कुछ तो जेल-जीवन की उदासी और निष्क्रियता से मुक्ति पाने और कुछ भारत में जो हुआ

---

† यह पुस्तक हिन्दी में 'सस्ता साहित्य मंडल' नई दिल्ली से प्रकाशित हुई है।

ओर हो रहा था उसके सम्बन्ध में अपने सवालों का जवाब पाने के लिए।

जुलाई में कमला बहुत बीमार हो गईं। उनकी हालत इतनी चिन्ताजनक हो गई कि जवाहर को पुलिस के पहरे में इलाहाबाद लाया गया। इन्दिरा भी शान्तिनिकेतन से आ गई। कमला को अत्यधिक दुर्बल और क्षीण पाकर जवाहर सन्न रह गए। एक ही उद्देश्य के लिए समर्पित दोनों के मन पूरी तरह मिले हुए थे और वे एक-दूसरे पर निर्भर भी करते थे। कमला जवाहर के लिए सुख-शान्ति का स्रोत थीं और उन्होंने कभी अपने पति को यह मालूम न होने दिया कि वह कितनी अधिक बीमार हैं और पति के संग-साथ के लिए कितनी लालायित रहती हैं। उन्होंने निराशा को कभी पास नहीं फटकने दिया और जब भी जवाहर के पास रहीं, चिन्ता और निराशा के क्षणों में उन्हें दिलासा और नई हिम्मत देती रहीं।

जवाहर को अपनी पत्नी के पास ग्यारह दिन रहने की अनुमति दी गई। उनकी उपस्थिति और प्यारभरी सेवा-टहल से कमला का मन बहलता रहा और उन्हें इतना आराम पहुंचा कि तबीयत सुधरने के आसार दिखाई देने लगे। लेकिन ब्रिटिश सरकार को यह स्वीकार न हुआ। इलाज करनेवाले डाक्टरों से रोज कमला के स्वास्थ्य की बुलेटिन मंगवाई जाती थी। जैसे ही पता चला कि खतरा टल गया है, पुलिस भेजकर जवाहर को नैनी-जेल, जो आनन्द भवन से सिर्फ आठ मील के फासले पर है, पहुंचा दिया गया। ब्रिटिश हुकूमत उन्हें खतरनाक मानती थी और इसलिए जेल में ही बन्द

रखना ठीक समझती थी। कलेजे पर पत्थर रखकर उन्हें जाना पड़ा। विदा करते समय बीमार पत्नी की वीरतापूर्ण मुस्कान उनकी आंखों में नाचती रही।

उनके जाने के बाद कमला की हालत बराबर बिगड़ती चली गई। सितम्बर में फिर हालत चिन्ताजनक हो गई और जीवन के लिए खतरा पैदा हो गया। सरकार ने जवाहर को रिहा करने के लिए यह शर्त रखी कि वह राजनैतिक कार्रवाइयों में भाग न लेने का आश्वासन दें। यह जानते हुए भी कि पत्नी की इस विकट बीमारी में वह उसे छोड़कर कोई भी राजनैतिक कार्य नहीं कर सकते, उन्होंने आश्वासन देने से इन्कार कर दिया। नतीजा यह हुआ कि अक्तूबर में पुलिस पुनः उन्हें इलाहाबाद छोड़ गई। उन्होंने आकर देखा कि कमला तो तेज बुखार में तपता हड्डियों का ढांचा-भर रह गई है। लेकिन उस क्षणिक-सी मुलाकात में भी वज्र संकल्प की उस महिला ने अपनी सारी शक्ति बटोरकर पति के कान में यही कहा, "आपके द्वारा सरकार को आश्वासन देने की कोई बात हो रही है क्या ? ऐसा हर्गिज न कीजिएगा।"[1]

डाक्टरों ने यह सोचकर कि स्वच्छ हवा और शक्तिवर्धक जलवायु में रहने से शायद लाभ हो, कमला को भुवाली के सेनेटोरियम में भर्ती करा दिया गया। यह छोटा-सा पहाड़ी कस्बा हिमालय के वनांचल में ऐसी जगह स्थित है, जहां से गिरिराज की हिममण्डित धवल चोटियां साफ दिखाई देती हैं। यहां का ठण्डा और आरोग्यदायी जलवायु अनुकूल सिद्ध हुआ और उनका स्वास्थ्य सुधरने लगा। सरकार ने इतनी सौजन्यता जरूर बरती कि जवाहर को अलमोड़ा जिला जेल

भेज दिया, जो भुवाली से ज्यादा दूर नहीं है। साढ़े तीन महीने में उन्हें पांच वार अपनी पत्नी को देखने जाने की इजाजत दी गई।

हमारे एक चचेरे (ममेरे या फुफेरे ?) भाई डा० मदन अटल शुरू से कमला की परिचर्या कर रहे थे। मई १९३५ में उन्होंने कमला को जर्मनी ले जाने का फैसला किया, क्योंकि वहां के ब्लैक फारेस्ट में स्थित वेडनवीलर सेनेटोरियम में वढ़िया-से-बढ़िया इलाज हो सकता था। इसीलिए इन्दिरा को शान्तिनिकेतन की अपनी पढ़ाई छोड़नी पड़ी, जिससे वह अपनी मां को वेडनवीलर ले जा सके और साथ रह सके। निष्ठावान् डाक्टर अटल भी उन लोगों के साथ गए।

वहां उन लोगों से मिलने के लिए फ़ीरोज़ गांधी नामक (महात्मा गांधी का सम्वन्धी नहीं) एक पारसी युवक, जो लन्दन स्कूल ग्राफ इकनॉमिक्स का विद्यार्थी था, जव भी छुट्टी पाता, अक्सर लन्दन से पहुंच जाया करता था। वह कमला का बड़ा भक्त और प्रशंसक था। कमला की ही वजह से वह सविनय अवज्ञा आन्दोलन में कांग्रेस का स्वयंसेवक वना था।

कमला का और मेरा उससे परिचय उस समय हुआ जब हम महिलाओं की एक टुकड़ी के साथ एक कालेज पर घरना दे रही थीं। कालेज के लड़के, जिनमें फ़ीरोज़ भी था, चहार-दीवारी पर बैठे हमें देख रहे थे। हमने नारे लगाए और उनसे सरकारी कालेज की पढ़ाई छोड़कर राष्ट्रीय आन्दोलन में शरीक होने के लिए कहा।

उस दिन गजब की गर्मी थी, लेकिन हम लोग चिल-

चिलाती धूप में घण्टों पिकेटिंग करती रहीं। मारे प्यास के हमारे गले सूख रहे थे। ग्रामतौर पर ऐसा होता था कि दर्शक धरना देनेवालों को पानी पिला दिया करते थे; लेकिन लड़कों ने ऐसा कुछ नहीं किया। उन्होंने इसे एक ग्रच्छा-खासा तमाशा ही समझा ग्रौर मज़ा ले-लेकर देखते रहे। सहसा कमला बेहोश हो गईं। फौरन लड़के चहारदीवारी पर से कूदकर हमारे पास दौड़े ग्राये। वे कमला को उठाकर पेड़ की छाया में ले गए, भागकर पानी लाये ग्रौर उनके सिर पर गीली पट्टी रखी। उन्हींमें से कोई पंखा ले ग्राया ग्रौर कमला के चेहरे पर झलने लगा। होश ग्राने पर हम कमला को घर ले ग्राये।

इस घटना ने विद्यार्थियों के दिल-दिमाग को वदल दिया। दूसरे ही दिन कई विद्यार्थियों ने, जिनमें फ़ीरोज़ भी था, कालेज छोड़ दिया ग्रौर कांग्रेस कार्यालय में ग्राकर स्वयंसेवकों में नाम लिखा लिया। सत्याग्रह के प्रति कमला की निष्ठा, उनकी वीरता ग्रौर कष्ट-सहिष्णुता से फ़ीरोज़ इतना प्रभावित हुग्रा कि उनका भक्त ही वन गया ग्रौर हमेशा छाया की तरह उनके साथ रहने लगा। जिला समिति के ग्रध्यक्ष की हैसियत से उन्हें ग्रक्सर गांवों का दौरा करना पड़ता था। फ़ीरोज़ उनके चाय-नाश्ते की टोकरी उठाये गांव-गांव साथ फिरा करता।

इसलिए जव उसे पता चला कि कमला को इलाज के लिए यूरोप ले गए हैं, तो ग्रपनी मालदार मौसी (चाची या वुग्रा?) को उसने किसी तरह इस वात के लिए राज़ी कर लिया कि वह उसे पढ़ने के लिए इंग्लैण्ड भेज दे। मां की चिन्ता में व्याकुल इन्दिरा के लिए वह एक वड़ा सहारा हो

गया था।

अभी भी, अलमोड़ा की पहाड़ी जेल में बन्द, जवाहर कमला और इन्दिरा दोनों की चिन्ता में घुल रहे थे। पहाड़-से दिन काटे नहीं कट रहे थे। तभी एक दिन तार मिला (सरकारी खानापूरी और सेन्सर के कारण यह तार भी हमेशा की तरह देर से ही दिया गया था) कि कमला की हालत तेज़ी से गिरती जा रही है। ४ सितम्बर १९३५ को उन्हें सूचना दी गई कि बाकी रही छः महीने की सजा रद्द की जाती है। दूसरे दिन वह इलाहाबाद पहुंच गए और वहां से हवाई जहाज के द्वारा यूरोप के लिए चल दिये। कई शहरों में रुकना पड़ा और रेल से भी यात्रा करनी पड़ी और इसलिए पूरे पाँच दिन लग गए, तब कहीं ९ सितम्बर को वह बेडनवीलर पहुंच पाए।

बीमार पत्नी के बिस्तर के पास बैठे और ब्लैक फारेस्ट में घूमते हुए उन्हें सत्याग्रह-संग्राम में कमला के उत्साह, साहस और वीरतापूर्ण कार्यों का ही विचार आता रहता था। उन विषाद-भरे दिनों के विचारों को आठ वर्ष बाद उन्होंने लिपि-बद्ध किया :

"एक-एक करके कमला के सैकड़ों चित्र और उसके गहरे और अनमोल व्यक्तित्व के सैकड़ों पहलू मेरे दिमाग में घूमते रहते। हमारे ब्याह को करीब बीस वर्ष हो चुके थे, फिर भी न जाने कितनी बार उसके मन और आत्मा के नये रूपों को देखकर मैं अचम्भे में पड़ जाता था। मैंने उसे कितनी ही तरह से जाना था और बाद के दिनों में तो उसे समझ पाने की पूरी कोशिश भी की थी। यह बात नहीं कि मैं उसे बिलकुल पहचान ही न सका हूं, लेकिन यह सन्देह अक्सर मेरे मन में

होता था कि मैंने उसे पहचाना भी है या नहीं। उसमें परियों जैसा कुछ मायावी था—दुर्ग्राह्य, वास्तविक होते हुए भी अवास्तविक, जिसे पूरी तरह समझ पाना मुश्किल...

"मेरे सामने अपनी बीती हुई जिन्दगी की तस्वीरें घूम रही थीं और उनमें कमला हमेशा साथ दिखाई देती थी। मेरे लिए वह भारत की महिलाओं की ही नहीं बल्कि नारी-मात्र की प्रतीक बन गई थी।...मैं उससे कहा करता कि हम लोग कितने भाग्यवान हैं और वह भी इसे स्वीकार करती; क्योंकि आपस में हम कभी-कभी लड़े भले ही हों, एक-दूसरे से नाराज़ भी हुए हों, लेकिन उस जीवन-ज्योति को कभी बुझने न दिया, सतत जलाये रखा और जिन्दगी हम दोनों को नये-नये करिश्मे दिखाती और एक-दूसरे की नई झलक देती रही।"[२]

कमला ने कुछ ताकत हासिल करके हम सबको चकित कर दिया। क्रिसमस के बाद वह कहने लगीं कि बेडनवीलर में रहते-रहते मैं उकता गई हूं. अब कहीं और ले चलो। डाक्टर अटल राज़ी हो गए। १९३६ का जनवरी महीना खत्म होते-होते उन्हें स्विट्ज़रलैण्ड में लोज़ान के निकट एक दूसरे सेनेटोरियम में ले जाया गया।

कमला की हालत में फिर सुधार होने लगा। इन्दिरा वेक्स (जो लोज़ान से ज्यादा दूर नहीं था) के उस स्कूल में पढ़ने चली गई जहाँ वह पहले पढ़ चुकी थी और जवाहर चूंकि दुबारा कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए थे, अप्रैल के अधिवेशन के लिए भारत लौटने की तैयारियां करने लगे। उनकी उड़ान के चार दिन पहले कमला की हालत अचानक बहुत ज्यादा खराब हो गई। २८ फरवरी १९३६ को उनका प्राणान्त हो

गया और लोज़ान में ही दाह-संस्कार हुआ। मृत्यु के समय जवाहर, इन्दिरा और फ़ीरोज़ उनके पास थे।

इन्दिरा मातृ-विछोह-जनित शोक पर काबू पा सके, इसलिए जवाहर उसे सुरम्य झीलों वाले मांट्रचू ले गए और वहां कुछ दिनों स्नेह-दुलार भरी बातों से समझाते और उसका मन बहलाते रहे। फिर वह वेक्स के स्कूल चली गई और जवाहर हवाई जहाज से भारत लौट आए।

उड़ान के दरमियान, जैसाकि उन्होंने आठ बरस बाद अहमदनगर क़िले के जेलखाने से लिखा।

"एक भयानक अकेलापन मुझपर छा गया और मैंने ऐसा महसूस किया कि मुझमें कुछ रह नहीं गया और मैं बिना किसी मकसद का हो गया हूं। मैं अपने घर की तरफ अकेला लौट रहा था, उस घर की तरफ जो अब घर नहीं रह गया था, और मेरे साथ एक टोकरी थी और उस टोकरी में राख और अस्थियों का एक कलश था। कमला का सिर्फ यही बच रहा था और हमारे सुख के सपने सारे मर चुके थे और राख हो चुके थे। वह अब नहीं रही, कमला अब नहीं रही—मेरा मन यही दुहराता रहा।"[3]

बग़दाद पहुंचकर उन्होंने अपने आत्म-चरित के प्रकाशक को लन्दन एक समुद्री तार भेजा। उन्होंने पुस्तक में यह समर्पण जोड़ने की सूचना दी थी—"कमला को, जो अब नहीं रही।"

कराची में झुण्ड-के-झुण्ड लोग उनसे मिलने के लिए आए। "और तब इलाहाबाद, जहाँ हम लोगों ने उस कीमती कलश को वेग से बहनेवाली गंगा तक पहुंचाया और फिर उस पवित्र नदी में उन अस्थियों को प्रवाहित कर दिया।"[4]

वह इतने शोक-सन्तप्त हुए कि असमय ही बूढ़े लगने लगे। उनकी उदास आंखों में अन्तर की गहन पीड़ा छलकी पड़ती थी। उनकी यह हालत देखकर मेरे हृदय में हूक उठती और मैं तिल-मिलाकर रह जाती थी।

८

जीवन कसौटी पर

•

जवाहर इन्दिरा को आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में भर्ती करवाना चाहते थे, इसलिए बेक्स में कुछ समय पढ़ने के बाद वह लन्दन की मैट्रिकुलेशन परीक्षा की तैयारियों के लिए इंग्लैंड चली गई और वहां ब्रिस्टल के बैडमिण्टन स्कूल में दाखिल हो गई। उसके भारत लौटने और राजनीति में उलझने में कोई तुक नहीं थी, क्योंकि सविनय अवज्ञा आंदोलन के स्थगित हो जाने से देश का राजनैतिक वातावरण शान्त हो गया था। वह फ़ीरोज़ से, जो 'लन्दन स्कूल आफ इकनॉमिक्स' में पढ़ता था, बराबर मिलती रहती। ब्रिस्टल के बाद वह आक्सफोर्ड के सोमरविले कालेज में पढ़ने लगी। लेकिन राजनीति उसके खून में समायी हुई थी, इसलिए वह उससे अलग न रह सकी। वह जब भी लन्दन जाती, इण्डिया लीग के लिए काम करती। उसके संचालक उन दिनों कृष्ण मैनन थे। इंदिरा कभी भारत की स्पेन-सहायता-समिति के लिए तो कभी चीन-सहायता-समिति के लिए (दोनों के संस्थापक और अध्यक्ष उसके पिता ही थे) चन्दा जमा किया करती और

कभी वह केवल स्पेनी अभिनेत्री ला पेशोनारिया से मिलने के लिए ही लन्दन जाती थी।

१६३७-३८ में यूरोप में खासी उथल-पुथल मची हुई थी। हिटलर ने पड़ोसी देशों पर अपने हमले शुरू कर दिये थे। स्पेन में घरेलू युद्ध छिड़ा हुआ था। अमरीका और यूरोप में उदार विचारों की नई लहर के कारण वहां का नवयुवक स्पेनी गणतन्त्र को बचाने के लिए इंटरनेशनल ब्रिगेड (अन्तर्राष्ट्रीय मुक्ति-सेना) में खिंचा चला आ रहा था। जो भारतीय विद्यार्थी यूरोप में थे उनके लिए वह समय बड़ा ही उत्तेजनापूर्ण था। अपने स्वतन्त्रता-आन्दोलन के प्रति सजग और इंग्लैंड के मुक्त वातावरण में रहने के कारण वे समझ सकते थे कि जो जनता सार्वजनिक रूप से यह घोषणा कर सकती है कि वह 'राजा और देश' के लिए युद्ध नहीं करेगी, उसके निकट स्वतन्त्रता का क्या मतलब होता है। ऐसी खुली घोषणाओं और प्रदर्शनों ने भारतीय संघर्ष की अन्तिम विजय में इन्दिरा की आस्था को और भी दृढ़ किया।

बहुत-से लोगों को पता था कि जवाहर की बेटी इंग्लैंड में है और वे उससे परिचय भी बढ़ाना चाहते थे, लेकिन इन्दिरा ने अपनेको सबसे दूर ही रखा। हां, अपने परिवार के विश्वासपात्र फ़ीरोज़ से वह बराबर मिलती रहती थी।

इंग्लैंड में उसकी दूसरी घनिष्ठ मित्र शान्ता गांधी नाम की एक भारतीय लड़की थी, जो पूना के 'प्युपिल्स ओन स्कूल' में उसकी सहपाठिनी रह चुकी थी। उत्कट राष्ट्र-प्रेम के अतिरिक्त उन दोनों में और भी कई बातों में समानता थी। इन्दिरा की तरह शान्ता भी भारतीय नृत्य जानती और स्पेन

की सहायता के लिए किये जानेवाले कार्यक्रमों में अक्सर नाचा करती थी। इन्दिरा टिकट बेचती या सहायता के दूसरे काम करती थी। एक दिन इन्दिरा ने शान्ता को फ़ीरोज़ से मिलाया और शान्ता का दावा है कि दोनों के प्रेम का अनुमान उसे उसी समय हो गया था। १९४२ में फ़ीरोज़ से इन्दिरा की शादी हुई, तो शान्ता ने शायद यह कल्पना की होगी कि दोनों के प्रेम की बात उसने उन लोगों के विद्यार्थी-काल में ही जान ली थी; लेकिन इन्दिरा, एक सच्चे नेहरू की तरह, कभी अपनी भावनाओं को प्रकट नहीं करती और न उस समय उसने की होगी।

कई प्रमुख यूरोपियनों से पिता की अच्छी और काफी समय से दोस्ती थी, इसलिए इन्दिरा को बड़े-बड़े लोगों से मिलने के अवसर बराबर प्राप्त होते रहते थे। आक्सफोर्ड में पढ़ते समय अर्न्स्ट टालर और उसकी पत्नी क्रिस्टाइन से (जिससे वह १९२७ में स्विट्ज़रलैंड में मिली थी) उसने अपना परिचय फिर ताज़ा किया। अब वे हिटलर के आतंक के कारण जर्मनी से भागे हुए शरणार्थी थे। इन्दिरा के कथनानुसार अर्न्स्ट टालर की आंखों में गहन पीड़ा भरी हुई थी। वह पहले महायुद्ध के बाद से ही जर्मनी का क्रान्तिकारी नेता रहा था। इन्दिरा ने उसकी बातों को गहन मानवता और स्वातंत्र्य-प्रेम से ओत-प्रोत पाया। उसके महान् नाटक 'मैन एण्ड दी मासेज़' (मनुष्य और जनता) में हिंसा के विरुद्ध मानव-आत्मा के संघर्ष को अंकित किया गया है। इन्दिरा के प्रति टालर-दम्पती का प्रेम उस पत्र से प्रकट होता है जो क्रिस्टाइन ने जवाहर को लिखा था, "वह सुन्दर ही नहीं,

पवित्र भी इतनी है कि मन प्रसन्न हो जाता है। मुझे वह एक नन्हे फूल की तरह लगती है, जिसे हवा आसानी से उड़ा ले जाती है; लेकिन मेरा खयाल है कि वह हवा से डरती नहीं।"[१] टालर-दम्पती इंग्लैंड से संयुक्त राज्य अमरीका में बसने के लिए चले गए। १९३९ में अर्न्स्ट टालर ने आत्महत्या कर ली। इन्दिरा के मन में वह हिटलर द्वारा सताये हुए अत्याचार-पीड़ितों का प्रतीक था।

जवाहर फिर पूरी तरह कांग्रेस की गतिविधियों में रम गए। १९३७ में वह पुनः अध्यक्ष चुने गए। ब्रिटिश सरकार ने भारत के लिए एक नया संविधान तैयार किया था—तीन गोलमेज़ परिषदों के बाद। इस संविधान में सूबों की धारा-सभाओं को नाम-मात्र के अधिकार (अधिकारों का आभास-मात्र) दिये गए थे, लेकिन केन्द्र में कोई अधिकार नहीं दिया गया था। यह संविधान कांग्रेस को स्वीकार न था; उसने चुनाव लड़ने और जीतकर बहुमत में आने पर सूबों में अपने मंत्रिमण्डल बनाने का फैसला किया। जवाहर इस नीति से सहमत न थे, फिर भी कांग्रेसी उम्मीदवारों के पक्ष में उन्होंने चुनाव-प्रचार में जी-जान से भाग लिया और सारे देश का दौरा किया। यह चुनावी दौरा उनके लिए 'भारत की खोज की यात्रा' सिद्ध हुआ; उन्हें अपने देश से प्यार था, "लेकिन यहां के लोगों और उन्हें एकता के सूत्र में बांधे रखने वाली सदियों पुरानी संस्कृति से कोई परिचय नहीं था।"

उनका ध्यान बराबर अपनी बेटी की ओर लगा रहता और अपने भाषणों में वह बड़े स्नेह से उसका उल्लेख भी करते। एक बार पठान कबाइलियों के आगे भाषण देते हुए

उन्होंने कहा था :

"मेरे एक बीस बरस की बेटी है, जो इस समय बहुत दूर इंग्लैंड में है। वह मेरी इकलौती सन्तान है और मुझे बहुत प्रिय है। मैंने उसे हिम्मत और अपने-आप पर भरोसा करना और कुछ भी क्यों न हो जाय, डर को कभी पास न फटकने देना वगैरा बातें सिखाने की कोशिश की है। अगर इस वक्त वह मेरे साथ होती तो मैं बेहिचक उससे कहता कि अकेली कबाइली इलाकों में जाय, वहां के लोगों से मिले, और उनसे दोस्ती करे। मैं ऐसा इसीलिए कहता कि मुझे उसपर विश्वास है और उन लोगों पर भी (कबाइली लोगों पर भी) विश्वास है।"[२]

जवाहर लगातार दो बार कांग्रेस-अध्यक्ष रह चुके थे, इसलिए १९३७ के अन्त में जब उनका कार्यकाल समाप्त हुआ तो वह अध्यक्ष-पद से निवृत्त हो गये।

१९३८ के आरम्भ में मैं अपने दोनों नन्हें बेटों के साथ मायके आई, जैसाकि हर साल किया करती थी। नान, उसके पति और उन लोगों के बच्चे वहां पहले से ही थे, और जवाहर भी अपने भारत-व्यापी दौरे से लौट आये थे। आपस में मिलकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई, खासकर अम्मां के साथ (जिन्हें दो दौरे पड़ चुके थे) और हम सबकी प्यारी मौसी—बीबी अम्मां के साथ रहने का मौका मिला। बीबी अम्मां हमारी माताजी की बड़ी बहन थीं, चढ़ती जवानी में विधवा हो गई थीं और तबसे हमारे यहीं रहतीं और अम्मां की खूब देख-भाल करती थीं। इन्दिरा अभी इंग्लैंड में ही थी। उसका यहां न होना हम सबको बहुत अखरता और याद भी खूब

आती थी।

अम्मां बहुत खुश थीं और उनकी तबीयत काफी अच्छी लग रही थी। लेकिन एक दिन शाम को हम बैठे बातें कर रहे थे कि वह अचानक लुढ़क गईं। फौरन ही डाक्टर को बुलाया गया। उसने बताया कि बहुत ज़ोर का दौरा पड़ा है। सारी रात जवाहर, नान, बीबी अम्मां और मैं उनके पास बैठे रहे। सवेरे उनका प्राणान्त हो गया।

मैं बीबी अम्मां से लिपट गई। उन्होंने मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, "सिर्फ तुम्हारी अम्मां की खातिर ही जी रही थी, अब मेरा काम पूरा हुआ।" और अम्मां की मृत्यु के चौबीस घण्टों के अन्दर-अन्दर वह भी कूच कर गईं।

जवाहर थके हुए थे और उदास तथा अकेले भी। वह इन्दिरा के पास जाना चाहते थे। २ जून को वह स्पेन के लिए समुद्री मार्ग से रवाना हुए, वहां से लन्दन पहुंचे और इन्दिरा को साथ लेकर यूरोप की सैर पर निकल गए। यूरोप की अपनी इस यात्रा में वह जहां भी गये, सर्वत्र हिटलर का आतंक और भय हावी दिखाई दिया। उन्होंने यहूदियों की दयनीय दशा देखी और उन सब लोगों को भी देखा जो नाज़ी जर्मनी के राजनैतिक विरोधी थे। उन्होंने हिटलर को ३० लाख जर्मन आबादी वाले चेक सुडेटनलैंड को हड़पते हुए देखा; और २६-३० सितम्बर, १६३८ की म्यूनिख कान्फ्रेन्स भी देखी, जिसमें ब्रिटेन और फ्रान्स ने चेकोस्लोवाकिया से किये अपने सभी वादों को धता बताकर उस आज़ाद मुल्क को बड़ी बेशर्मी के साथ हिटलर के हवाले कर दिया था। यूरोप और सारी दुनिया पर युद्ध के बादल मंडरा रहे थे। नवम्बर में

जवाहर इलाहाबाद लौट आये। अपने साथ वह इन्दिरा को भी ले आये थे।

इस यात्रा के अन्तिम चरण में, जब वह अरब सागर को पार कर रहे थे, जवाहर ने इन्दिरा के नाम इतिहास की शिक्षावाला एक पत्र लिखा। यह पत्र १४ नवम्बर, १९३८ को लिखा गया था। उन्होंने इस पत्र को १९३३ में लिखे अपने 'अन्तिम पत्र' का 'उपसंहार' कहा है।

"इस उपसहार में मुझे इन पांच वर्षों की कहानी का वर्णन करना है, क्योंकि ये पत्र अब एक नई शक्ल में प्रकाशित होने जा रहे हैं, और इनका प्रकाशक चाहता है कि इनमें आज तक की बातें शामिल कर दी जायं।...

"अब लोकतंत्र का दायरा इतना बढ़ाना होगा कि उसमें आर्थिक बराबरी का भी समावेश हो सके। यही वह महान् क्रान्ति है, जिसमें होकर हम सब गुजर रहे हैं,...ताकि लोकतंत्र पूरी तरह सार्थक हो और हम लोग विज्ञान तथा तकनालाजी की तरक्की के साथ-साथ चल सकें।

"यह समता साम्राज्यवाद या पूंजीवाद के साथ मेल नहीं खाती, क्योंकि उनकी बुनियाद विषमता और राष्ट्र या वर्ग का शोषण है।...मौजूदा संघर्ष, जो दुनिया-भर में दिखाई देता है, एक ओर साम्यवाद तथा समाजवाद और दूसरी ओर फ़ासीवाद के बीच नहीं है। यह संघर्ष तो लोकतंत्र और फ़ासीवाद के बीच है और लोकतंत्र की तमाम असली ताकतें कन्धे भिड़ाकर फ़ासिस्ट-विरोधी बनती जाती हैं।"[3]

नवम्बर के अन्त में इन्दिरा की तबीयत खराब हो गई। कारण, शायद यूरोप की लम्बी और कठिन यात्राओं की

थकान थी। जवाहर ने कहा कि पहाड़ों में सर्दियां विताने से भली-चंगी हो जायगी और उन्होंने मुझे भी मेरे तीन और चार साल के दोनों छोटे वेटों को लेकर उसके साथ अलमोड़ा जाने को कहा, जहां उन्होंने उसके रहने के लिए एक बंगलिया ठीक कर दी थी। पहाड़ों के शान्त-एकान्त वातावरण में इन्दिरा और मैं पुस्तकें पढ़कर और जिन महापुरुषों से हम मिली थीं उनके विचारों पर चर्चा करके या वर्फ में बच्चों को खेलते हुए देखकर अपना समय गुजारा करतीं। कभी हमसे मिलनेवाले भी आ जाया करते थे—यूरोपीय कलाकार और भारतीय वैज्ञानिक वोशी सेन और उनकी अमरीकी पत्नी। हमारी वे सर्दियां खूब आनन्द से कटीं।

१९३९ के मार्च महीने में त्रिपुरा में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, जिसमें हमारे पूरे परिवार ने भाग लिया। इस अधिवेशन का वातावरण बहुत उत्तेजनापूर्ण था। सुभाषचन्द्र वोस अध्यक्ष-पद के लिए दुबारा चुनाव लड़ रहे थे और गांधीजी उनके विरोधी थे तथा कांग्रेस की कार्यसमिति द्वारा नामज़द उम्मीदवार का समर्थन कर रहे थे। जवाहर भी वोस के विरुद्ध थे, क्योंकि सुभाष इस आशा से तानाशाही शक्तियों से सहयोग की वकालत कर रहे थे कि वे भारत को स्वतंत्र होने में सहायता देंगी। यद्यपि कार्यकारिणी तनी रही और झगड़े भी खूब हुए, फिर भी सुभाषवावू दुबारा अध्यक्ष चुन लिये गए। मगर एक महीने के वाद ही उन्हें, गांधीजी के प्रभाव के कारण, अपने पद से इस्तीफ़ा दे देना पड़ा।

अप्रैल १९३९ में इन्दिरा आक्सफोर्ड लौट गई। वहां वह अपनी पढ़ाई और कालेज-जीवन के संगी-साथियों में मगन

हो गई। इस बार वह जिन लेखकों से मिली उनमें एडवर्ड जे० थामसन भी थे, जिन्होंने भारत पर कई पुस्तकें लिखी हैं। दिसम्बर में उन्होंने इंग्लैंड से जवाहर को लिखा था :

"मैं इन्दु से मिला था। अच्छी-भली लग रही थी और 'अच्छी-भली' है भी। दुबली जरूर है और चाहें तो 'सुकुमार' भी बेशक कह सकते हैं और रहने-सहने में उसे काफी साव-धानी भी बरतनी होगी। लेकिन अन्दर से बहुत मजबूत है और किशोरावस्था के ये संकट-भरे दिन जब बीत जायंगे, तो वास्तव में उसकी शक्ति निखर आयगी।"[४]

लेकिन १९४० में उसे प्लूरिसी हो गई और लन्दन के एक अस्पताल में भर्ती होना पड़ा। डाक्टरों को उसकी मां की बीमारी का इतिहास मालूम था। वे डरे कि फेफड़े की सूजन कहीं क्षय का रूप न ले ले। उन्होंने सलाह दी कि अस्पताल से छुट्टी पाते ही फौरन स्विट्ज़रलैंड चली जाय और वहां की सूखी और धूपवाली आबोहवा में रहे।

मैंने सुना तो बहुत घबरायी और जल्दी-से-जल्दी उसके पास पहुंचने को व्याकुल हो उठी। लेकिन राजा ने विरोध किया, क्योंकि युद्ध के कारण समुद्री यात्रा निरापद नहीं रह गई थी। इतने में जवाहर का पत्र आ गया और मेरे जी को कुछ शान्ति मिली :

"इन्दु का अभी-अभी तार मिला। तार सालगिरह का है, मगर अपने बारे में उसने अच्छी खबर भी जोड़ दी है। पिछले १९ दिनों से उसे बुखार नहीं है और सूजन भी उतर गई है। पांचेक पौंड वजन बढ़ा है। मतलब यह कि उसकी तबीयत में सन्तोषजनक सुधार है, मगर अभी दो हफ्ते और

उसे अस्पताल में रहना होगा। उसके वाद स्विट्ज़रलैंड चली जायगी—या तो लेज़िन या में डावो किसी जगह। वहुत करके अगाथा भी उसके साथ जायगी, पर वहां रहेगी नहीं। डाक्टरों की राय उसे वहां चार या पांच महीने तक रखने की है। उसके वाद इस दुनिया का या हम लोगों का भी क्या होगा, कुछ कहा नहीं जा सकता।"

लेकिन युद्ध के कारण स्विट्ज़रलैंड में चार या पांच महीने की यह अवधि वरावर वढ़ती गई। अव उसका आक्सफोर्ड लौटना ठीक नहीं था, क्योंकि इंग्लैंड के नगरों पर जर्मन वम-वारी वहुत तेज़ और उग्र हो गई थी। १६४१ के आरम्भ में इन्दिरा ने घर लौटने का फैसला किया, क्योंकि भारत का स्वतन्त्रता-संग्राम फिर सक्रिय होने जा रहा था।

वाइसराय ने भारतीय जनता से परामर्श करना उचित न समझा और न जनता को स्वतन्त्रता तथा लोकतंत्र के अधि-कार ही दिये और भारत की ओर से युद्ध की घोषणा कर दी, तो कांग्रेस ने इसके विरोध में व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू कर दिया। कांग्रेस कार्यसमिति ने वक्तव्य दिया कि गुलामी में रहते हुए भारत इंग्लैंड के समर्थन में लड़े जानेवाले युद्ध में भाग नहीं ले सकता। गांधीजी ने दूसरे सत्याग्रही के रूप में (विनोवा भावे के वाद) जवाहर को चुना। उन्हें, सरकार को यह सूचना देने के वाद कि वह एक सार्वजनिक सभा में जनता को युद्ध-प्रयत्नों में किसी भी तरह का सहयोग न देने के लिए कहेंगे, ७ नवम्वर, १६४० को सत्याग्रह करना था। लेकिन सरकार ने हमेशा की तरह उन्हें इस वार भी पहले ही गिरफ्तार कर लिया। ३१ अक्तूवर को, जव वह गांधीजी से मिलकर

लौट रहे थे, पकड़े गए और कोई महीने-भर पहले दिये गए तीन भाषणों के दण्डस्वरूप उन्हें चार वर्ष कैद की सज़ा दे दी गई। इस तरह वह फिर देहरादून की जेल में पहुंच गए।

जब मुझे पता चला कि इन्दिरा ने भारत लौटने का फैसला किया है तो बड़ी घबराहट होने लगी। उन दिनों समुद्री यात्रा खतरे से खाली न थी। जर्मन पनडुब्बियां मित्र-राष्ट्रों के कई जहाजों को डुबो चुकी थीं और बराबर डुबाये जा रही थीं। मैंने जवाहर को पत्र लिखा कि उसे आने से किसी भी तरह रोका जाय। मेरे इस डरपोकपन के लिए मुझे आड़े हाथों लेते हुए उन्होंने लिखा :

"मैं खुश हूं कि उसने लौटने का फैसला किया। डर और खतरे तो बेशक कई हैं, मगर सबसे दूर अकेले और दुःखी रहने से बेहतर है उनका सामना करना। अगर वह लौटना चाहती है तो खतरा उठाये या फिर जो ऊपर आये उसे भोगते रहना होगा। हम सबकी जिन्दगी कठोर और कष्टमय होती जाती है। आराम के दिन कभी के बीत गए और गुज़रे ज़माने की बात हो गए। वे कब लौटेंगे, कौन जानता है! और क्या कभी लौटेंगे भी? जिन्दगी जैसी है, हमें उसके माफिक अपनेको ढालना होगा और जो नहीं है उसकी लालसा करते रहना बेकार है। शरीर को होनेवाली तकलीफें और खतरे मन के कष्टों और तूफानों के मुकाबले कुछ भी नहीं हैं। और फिर जीवन सुखमय हो या कठोर, उससे हमेशा कुछ-न-कुछ तो पाया ही जा सकता है। जिन्दगी का अगर आनन्द लेना है तो उसके लिए चुकाई जानेवाली कीमत की परवाह मत करो।"

इन्दिरा एंटिबेस, बार्सीलोना और लिस्बन होती हुई इंग्लैंड

पहुंची, जहां फ़ीरोज़ ने उसे एक फौजी जहाज में, जो सैनिकों को लिए उत्तमाशा अन्तरीप का चक्कर लगाता हुआ भारत आ रहा था, किसी तरह जगह दिलायी—इस यात्रा में उसके लिए युद्ध के खतरे तो थे ही।

रास्ते में उसका जहाज एक हफ्ते डरबन में रुका रहा। इन्दिरा को दक्षिण अफ्रीकी सरकार की रंगभेद की नीति की बात मालूम थी, इसलिए उसने जहाज पर ही रहना ठीक समझा। लेकिन डरबन में भारतीय काफी बड़ी संख्या में रहते थे। उन्होंने सुना कि जवाहर की बेटी जहाज पर है, तो उसका सार्वजनिक सम्मान करने का आग्रह करने लगे। जब इन्दिरा ने इनकार कर दिया, तब वे उसे शहर दिखाने के लिए ले गए और इस तरह इन्दिरा ने अपनी आंखों रंगभेद की नीति के शिकार नीग्रो लोगों की दुर्दशा देखी। वह इतनी विचलित हो उठी कि सार्वजनिक स्वागत-सम्मान का निमंत्रण स्वीकार कर लिया और उसमें एक ज़ोरदार भाषण दे डाला। उसने दक्षिण अफ्रीका में रहनेवाले भारतीयों से साफ-साफ कहा कि आप लोगों को अगर यहां रहना है तो यहां के असली बाशिन्दों यानी नीग्रो लोगों के साथ, जो यहां के सच्चे मालिक हैं, करीबी रिश्ता कायम करना चाहिए। गोरे शासकों की गुलामी करने के रवैये और रंगभेद की नीति स्वीकार करने के लिए उसने भारतीयों की निन्दा की और वहां की रंगभेद नीति की नाज़ियों के जातीय उत्पीड़न से तुलना करते हुए उसे धिक्कारा। उसके इस भाषण से डरबन का भारतीय समाज इस कदर डर गया कि जबतक इन्दिरा का जहाज वहां रुका रहा, किसी ने उधर का रुख भी नहीं किया।

जून में इन्दिरा बम्बई पहुंची। उन दिनों मैं और राजा वहीं रहते थे। वह दुबली और बीमार लग रही थी। सबसे पहले वह अपने पिता से जेल में मिलने के लिए गयी और उसके बाद आनन्द-भवन गई, जो पिता, माता, दादी और मौसी-मां—बीबी अम्मां के बिना अब बिलकुल सूना और उजाड़ लगा होगा। जवाहर उसके स्वास्थ्य के बारे में चिन्तित तो थे ही, इसलिए फौरन उसकी डाक्टरी जांच-पड़ताल का बन्दोबस्त उन्होंने करवाया और मसूरी में आराम करने और स्वास्थ्यलाभ के लिए एक बंगलिया किराये पर ले दी। उन्होंने मुझे भी मेरे दोनों बेटों को लेकर साथ जाने के लिए कहा—अब एक लड़का सात बरस का और दूसरा छः का हो गया था। मसूरी में हमारी वे गर्मियां बड़े आराम और आनन्द से बीतीं और इन्दिरा के स्वास्थ्य में भी बहुत सुधार हुआ। अक्तूबर में मैं बम्बई लौट आई, लेकिन इन्दिरा वहीं रही, क्योंकि वह जगह देहरादून से जहां उसके पिता बन्दी थे, ज्यादा दूर नहीं थी और वह उनसे मिलने के लिए आसानी से जा सकती थी।

९

शादी जिसने तहलका मचा दिया

•

जेल की एक मुलाक़ात में इन्दिरा ने अपने पिता को बताया कि वह फ़ीरोज़ गांधी से शादी करना चाहती है। फ़ीरोज़ का परिवार इलाहाबाद में ही रहता था और वह बराबर आनन्द-भवन आया-जाया करता था।

'गांधी' कुलनाम या उपनाम है और इसका सम्बन्ध भी अन्य भारतीय उपनामों की ही तरह परिवार के पेशे या व्यवसाय से है। जो लोग मोदी, पंसारी या गंधी का काम करते, वे गांधी कहलाते थे। आरम्भ में जाति या सम्प्रदाय से इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। महात्मा गांधी हिन्दू थे और फ़ीरोज़ गांधी पारसी, और दोनों का आपस में कोई रिश्ता नहीं था।

पारसी लोग ज़ोरोस्टरीय अथवा ज़रथुस्त्री धर्म को माननेवाले हैं और इस धर्म के प्रवर्तक पैगम्बर ज़रथुस्त्र के अनुयायी हैं। इनकी मान्यता है कि पैगम्बर ज़रथुस्त्र ही स्वर्ग से पवित्र अग्नि को पृथ्वी पर लाये। इसीलिए पारसी लोग अग्नि की पूजा करते हैं और इनके मन्दिर अग्नि-मन्दिर कहलाते हैं। मूलत: ये लोग फ़ारस अथवा ईरान से (कुछ इतिहासकारों के

मतानुसार लगभग बारह सौ वर्ष पहले) मुस्लिम विजेताओं के धार्मिक अत्याचारों से त्रस्त होकर शरण की खोज में भारत आये। कहा जाता है कि ये कई दलों में समुद्र-मार्ग से भारत आये; लेकिन इनके भारत आने और यहां आकर बसनेवाले स्त्री-पुरुषों की निश्चित संख्या के बारे में कोई प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं है। कुछ लोगों का कहना है कि पांचसौ पुरुषों का सिर्फ एक ही समूह आया और उनमें कोई स्त्री नहीं थी। दूसरों का कहना है कि कम-से-कम पांच हजार आदमी और बीस औरतों का समूह आया। सचाई जो भी रही हो, यह सभी मानते हैं कि इनका काफिला भारत के पश्चिमी तट पर सूरत के विशाल और सम्पन्न नगर के समीप संजाना के बन्दरगाह पर आकर उतरा। उन दिनों संजाना का शासक एक हिन्दू राजा था, जो संजाना का राणा कहलाता था। पारसी उसकी सेवा में उपस्थित हुए और प्रार्थना की कि उन्हें वहां बसने और स्थानीय लोगों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की अनुमति प्रदान की जाय। राणा ने कुछ शर्तों पर उन्हें अपने यहां शरण देते हुए प्रार्थना स्वीकार कर ली। राणा की शर्तें थीं कि एक तो वे गाय को पवित्र और पूज्य मानेंगे, उसका वध नहीं करेंगे; दूसरे, अपनी विवाह-विधियों में कुछ हिन्दू रीतियों का समावेश करेंगे। आगन्तुक पारसियों ने इन शर्तों को खुशी-खुशी स्वीकार कर लिया और आज इतने बरसों के बाद भी उनका निष्ठापूर्वक पालन कर रहे हैं।

आज भारत में करीब डेढ़ लाख पारसी हैं और अधिकतर बम्बई और उसके पड़ोसी जिले बलसाड़ में रहते हैं। ये बड़े ही परिश्रमी और उद्यमशील लोग हैं और हमारे देश के उद्योग

तथा विधि एवं चिकित्सा आदि व्यवसायों में प्रमुख स्थानों पर हैं। इन्हें भारत के यहूदी भी कहा जाता है। बहुत थोड़ी संख्या में होने के कारण ये लोग अपने पुराने रीति-रिवाज़ों और धार्मिक कृत्यों-अनुष्ठानों से दृढ़तापूर्वक चिपके हुए हैं। भारत के किसी भी प्रमुख शहर में पंसारी की दुकान या शराब बेचने का कारबार करता हुआ कोई-न-कोई पारसी आपको ज़रूर मिल जायगा।

यह जानकर कि इन्दिरा फ़ीरोज़ से शादी करना चाहती है, जवाहर थोड़ा परेशान हो गये। परेशानी का कारण यह नहीं था कि फ़ीरोज़ की जाति या उसका धर्म भिन्न था। हमारे परिवार में जाति, धर्म या राष्ट्रीयता को कभी बाधक नहीं समझा गया। हम दोनों ही बहनों ने गैर-कश्मीरियों से शादी की। मेरी दो चचेरी बहनों ने मुसलमानों से और एक चचेरे भाई ने हंगेरियन से शादी की है। जवाहर के विरोध के कारण कुछ और ही थे। एक तो उनका यह खयाल था कि फ़ीरोज़ की पारिवारिक पृष्ठभूमि और उसका लालन-पालन हमसे बिलकुल ही भिन्न प्रकार के हैं। हमारा लालन-पालन बिलकुल पाश्चात्य ढंग से हुआ था और हम लोग जीवन में भी उन्हीं मान-मूल्यों को अपनाये हुए थे और जब भी किसी मित्र या रिश्तेदार की शादी होती तो अभिभावकों द्वारा तय की हुई शादियों के बखिये उधेड़ने लगते। अम्मां जरूर सनातनी हिन्दू परिवार की लड़की थीं, मगर पिताजी ने उन्हें समझा दिया था कि अगर दोनों परिवारों की पृष्ठभूमि एक-जैसी है तो फिर किसीसे भी शादी कर लेने में कोई हर्ज नहीं। हमारे देश में तो आज भी शादियां अभिभावक ही तय करते

हैं। फर्क सिर्फ इतना हुआ है कि परिचित परिवारों के लड़के-लड़कियों को आपस में मिला देते हैं और अन्तिम फैसला उन्हीं-पर छोड़ देते हैं। अगर माता-पिता या अभिभावकों का चुनाव उन्हें स्वीकार न हुआ, तो दूसरे प्रस्ताव रखे जाते हैं।

जवाहर की दूसरी आपत्ति यह थी कि बहुत समय विदेश में रहने के कारण इन्दिरा को भारत के दूसरे युवकों से मिलने और उन्हें समझने का अवसर नहीं मिल पाया है। लन्दन में उसने सिर्फ एक भारतीय युवक—फ़ीरोज़ से ही घनिष्ठ संबंध रखा। आक्सफोर्ड में उसने नये मित्र नहीं बनाये, पुरानों से ही मिलती-जुलती रही। १९३८ के नवम्बर महीने में जब भारत लौटी (और अप्रैल १९३९ में तो पुनः आक्सफोर्ड चली गई थी) तो हम सब राष्ट्रीय आन्दोलन में लगे थे और सामाजिक जीवन के लिए वक्त ही नहीं था।

जवाहर का सुझाव था कि इन्दिरा फिलहाल अपने निर्णय को स्थगित रखे और वर्तमान अवसर का उपयोग भारत के अन्यान्य युवकों से मिलने-जुलने और उन्हें समझने में करे। लेकिन इन्दिरा तो पक्का फैसला कर चुकी थी, इसलिए उन्होंने सुझाया कि वह नान से और मुझसे भी इस मामले में परामर्श कर ले।

इन्दिरा पहले नान के पास गई, तो उन्होंने भी इस शादी का विरोध ही किया। अपनी दलील के रूप में उन्होंने परम्परा, संस्कृति और ऐसी ही अन्य बातों के अन्तर पर ज़ोर दिया।

फिर वह बम्बई आई। कुछ दिन हमारे पास रही और इस मसले पर दिल खोलकर हमसे बातें कीं। राजा का तो

पहले ही दिन से यह कहना रहा कि अगर फ़ीरोज़ को सच्चे मन से प्यार करती हो तो सलाह-मशविरे का चक्कर छोड़ो और उससे शादी कर लो। मगर मेरी राय वही थी, जो मेरे भाई की। मैंने सलाह दी कि जो फैसला सारी ज़िन्दगी के लिए है, उसमें जल्दबाज़ी नहीं करनी चाहिए। जवाब में इन्दिरा ने मेरी ही शादी का उदाहरण देकर मुझे निरुत्तर कर दिया।

"आपको और राजाभाई को मिले," उसने कहा, "सिर्फ दस ही दिन हुए थे और इतने कम समय में आपने शादी करने का फैसला कर लिया। राजाभाई शायद आपके बारे में कुछ जानते रहे हों, आप तो उनके बारे में कुछ भी नहीं जानती थीं। चित्ती (फूफी के लिए तमिष शब्द), मैं फ़ीरोज़ को बरसों से जानती हूं और खूब अच्छी तरह जानती हूं। विदेश में बहुत-से भारतीय युवकों से भी मिल चुकी हूं। अब अपनी इच्छा के विरुद्ध दूसरों से क्यों मिलूं, आखिर किसलिए ? मैं तो फ़ीरोज़ से ही शादी करना चाहती हूं।" जवाब उसका बहुत ही युक्तियुक्त था।

जवाहर ४ दिसम्बर, १९४१ को जेल से रिहा किये गए। ७ दिसम्बर को जापान ने पर्ल हारबर पर बमबारी की। दूसरे दिन संयुक्त राज्य अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन ने जापान के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। एशिया में नया मोर्चा खुलते ही अंग्रेजों की मुसीबतें भी बढ़ चलीं। ११ दिसम्बर को अमरीका ने जर्मनी और इटली के खिलाफ युद्ध की घोषणा की। मित्र-राष्ट्रों के साथ अमरीका के आ मिलने से अन्तिम विजय में अंग्रेज़ों का विश्वास बढ़ चला। अब भारत

के लिए इसका सिर्फ एक ही मतलब था और वह यह कि ब्रिटेन समझौते के लिए किसी भी शर्त पर तैयार न होगा, क्योंकि क्या मिस्टर चर्चिल ने कहा नहीं था कि वह ब्रिटिश साम्राज्य को खत्म करने के लिए इंग्लैंड के प्रधानमन्त्री नहीं बने हैं ? और जहांतक भारत का सम्बन्ध था, राष्ट्रपति रूज़वेल्ट की चतुर्विध स्वतन्त्रता (६ जनवरी, १९४१ को निरूपित 'फ़ोर फ्रीडम्स') और अतलान्तक चार्टर (१४ अगस्त, १९४१ को घोषित) की पूरी तरह अवहेलना कर दी गई थी। डच, फ्रेंच और ब्रिटिश फौजों को बुरी तरह पीटता हुआ जैसे-जैसे जापान बर्मा में आगे बढ़ता जाता था, युद्ध हम भारत-वासियों के लिए एक वास्तविकता बनता जा रहा था।

जवाहर के जेल से रिहा होते ही इन्दिरा और फ़ीरोज़ की शादी करने की इच्छा भी ज़ोर पकड़ती गई। देश की उस समय की स्थिति के कारण और बहुत-कुछ अपने विचारों और मान्यताओं के कारण भी दोनों चुपचाप, बिना किसी धूमधाम के शादी करने के पक्ष में थे। लेकिन जाने कैसे बात फूट गई और जिन्हें हमसे कुछ लेना-देना नहीं था वे तक लगे शोर मचाने। इस अन्तर्जातीय विवाह के विरोध में कड़ी धमकियों से भरे हुए पत्र कट्टरपन्थी हिन्दुओं और पारसियों की ओर से आने लगे। जवाहर ने अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए एक सार्वजनिक वक्तव्य दिया :

"शादी एक निजी और पारिवारिक मामला है, जिसका खास सम्बन्ध विवाह करनेवालों से और कुछ थोड़ा सम्बन्ध उनके परिवारों से भी है।...मेरा बहुत पहले से यह नज़रिया रहा है कि मां-बाप को इस मामले में सलाह ज़रूर देनी

चाहिए, मगर आखरी फैसला उन्हीं पर छोड़ देना चाहिए जिन्हें शादी करनी है और अगर वह फैसला खूब सोच-समझ के बाद किया गया है, तो उसे अमल में लाया जाना चाहिए और मां-बाप को या दूसरे किसीको भी उसमें रोड़े अटकाने का कोई हक नहीं है। जब इन्दिरा और फ़ीरोज़ ने आपस में शादी करने का इरादा ज़ाहिर किया, तो मैंने फौरन अपनी मंजूरी दे दी और साथ ही अपने आशीर्वाद भी।"

जवाहर ने गांधीजी से परामर्श किया था, जैसाकि मेरी शादी के वक्त भी किया गया था। पिताजी की मृत्यु के बाद हमारे परिवार में उनका स्थान गांधीजी ने ले लिया था और हम उन्हींकी सलाह पर चला करते थे। यह बात सभीको मालूम थी, इसलिए गांधीजी को भी धमकी-भरे पत्र मिले। इसपर उन्होंने इन्दिरा को यह सलाह दी कि शादी कुछ बड़े पमाने पर ही करनी चाहिए, यद्यपि वह स्वयं हमेशा सादगी से ही विवाह करने के पक्ष में थे। उनका तर्क था कि "अन्यथा लोग यही समझेंगे कि तुम्हारे पिता तुम्हारा साथ देने को राज़ी नहीं हैं, जो उनके और खुद तुम्हारे मामले में भी सही न होगा।" इसलिए इन्दिरा को थोड़ी धूमधाम से शादी करने के लिए राज़ी होना पड़ा।

नान ने ग़ैर-कश्मीरी से शादी की थी, मगर उसके पति ब्राह्मण थे, इसलिए दोनों का विवाह हिन्दू धार्मिक पद्धति से ही हुआ था। मेरी बात कुछ भिन्न थी। राजा जैन हैं, और जन हिन्दुओं के अन्तर्गत ही आते हैं, फिर भी मैं ब्राह्मण होने के कारण उनसे हिन्दू पद्धति से शादी नहीं कर सकती थी, इसलिए अपने विवाह की कानूनी मान्यता के लिए मुझे

रजिस्ट्री के द्वारा अदालती विवाह (सिविल रजिस्ट्रेशन मैरेज) करना पड़ा था। तत्कालीन हिन्दू कानून के अन्तर्गत एक ब्राह्मण पुरुष, उच्च जाति का होने के कारण, किसी भी जाति की महिला से शादी करके उसे अपनी जाति में शरीक कर सकता था, लेकिन ब्राह्मण जाति की महिला अपने से नीची जाति के पुरुष से विवाह नहीं कर सकती थी। अम्मां मेरी अदालती शादी से खुश नहीं थीं। वह आशा लगाये रहीं कि बाद में कभी हिन्दू रीति से भी मेरी शादी की रस्म पूरी हो।

इन्दिरा की शादी मार्च १९४२ में रखी गई थी। उसकी शादी न तो उसके पिता की तरह शाही ठाठ से और न मेरी बहन की शादी-जैसी धूमधाम से ही हो सकती थी। स्वयं मेरी अपनी शादी बहुत ही सादगी और बिना किसी आडम्बर के हुई थी, क्योंकि उस समय अम्मां बहुत बीमार थीं। शादी की अदालती कार्रवाई और रजिस्ट्री का प्रबन्ध हमारे दीवान-खाने में ही कर लिया गया था और उसे फूलों से खूब अच्छी तरह सजा दिया गया था। शादी की पूरी विधि कुल जमा दस मिनट में ही निपट गई। इसीलिए तो आज भी मेरे पति का कहना है कि शादी हुई हो, ऐसा उन्हें लगता ही नहीं। लेकिन इन्दिरा का विवाह वैदिक विधि से हुआ और उसमें डेढ़ घण्टे से भी ज्यादा समय लगा। खूब बड़ा शामियाना ताना गया था और सारे देश से बहुत-से मेहमान उसमें आये थे।

मार्च में शादी का वह दिन भी बहुत सुन्दर और सुहावना था। खूब धूप खिल रही थी। इन्दिरा ने केसरिया रंग की साड़ी पहनी थी, जिसमें चांदी के छोटे-छोटे फूल टंके हुए थे। साड़ी का सूत उसके पिताजी ने अपने जेल के दिनों में काता

था। सोने-चांदी के आभूषणों के बदले उसे फूलों के गहनों से सजाया गया था, जैसाकि कश्मीरियों में रिवाज़ है। वह हमेशा की तरह शान्त और गम्भीर लग रही थी, परन्तु चेहरे की दमक उसके आन्तरिक उछाह को उजागर किये दे रही थी। देखने में सुन्दर और प्रिय वह उस समय और भी सुदर्शन और प्यारी लग रही थी। उसका छरहरा बदन स्वर्गिक आभा से मंडित हो उठा था।

विवाह की वैदिक विधि भी बहुत ही सुन्दर और सादगी-पूर्ण थी। ठीक समय, शुभ मुहूर्त में, जवाहर उसे लेकर शामियाने में आये, जहां फ़ीरोज़ अपने परिवार के साथ बैठे उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। वह खादी की शेरवानी और चूड़ीदार पायजामा पहने हुए थे, जैसाकि उत्तरप्रदेश में रिवाज़ है। हवनकुण्ड के सामने दूल्हा और दुलहिन पास-पास बिठाये गए। दुलहिन के एक ओर उसके पिता बैठे। उनके पासवाला आसन खाली था। सिर्फ एक कारचोबी का मसनद रखा था, जो इस बात का प्रतीक था कि यह दुलहिन की मां का आसन है, जो खुशी का यह दिन देखने के लिए जीवित न रह सकीं। वह खाली आसन दूल्हे और दुलहिन को इस बात की याद भी दिला रहा था कि हर खुशी में दुःख का यत्किंचित् स्पर्श होता ही है। जवाहर ने अपनी बेटी का हाथ दूल्हे के हाथ में थमा दिया। एक दूसरे का हाथ थामे, पंडितजी द्वारा बोले हुए शादी के पवित्र मंत्रों और प्रतिज्ञाओं का उच्चारण करते हुए, दोनों ने सप्तपदी की, अग्नि के सात फेरे करने की, परम्परागत रस्म पूरी की।

इन्दिरा और फ़ीरोज़ सुहागरात मनाने के लिए कश्मीर

चले गए और कुछ समय वहीं रहे। एक दिन इन्दिरा को लू-लपटभरी मैदानी गरमीवाले आनन्द-भवन में अपने पिता के अकेले होने की याद आई और उसने तार दिया, "काश, हम आपको यहां से शीतल बयार के झोंके भेज पाते!" जवाहर ने जवाब दिया, "धन्यवाद, लेकिन तुम्हारे पास वहां आम जो नहीं हैं।" वह जानते थे कि इन्दिरा को आम बहुत पसन्द हैं और आम इलाहाबाद में बहुतायत से होते हैं।

इन्दिरा और फ़ीरोज़ लौटकर इलाहाबाद में रहने लगे। कुछ दिन वे अपने प्यारे घर में बड़ी ही निश्चिन्तता से और सुखपूर्वक रहे, लेकिन जल्दी ही राजनैतिक हलचलों और गिरफ्तारियों का दौर शुरू हो गया और वे भी जी-जान से उसमें जुट गए। अगस्त में जवाहर और नान गिरफ्तार किये गए और सितम्बर में वे दोनों भी पकड़कर जेल भेज दिये गए।

१०

भारत में ब्रिटिश मिशन

•

भारत पर जापानी आक्रमण का खतरा जब बहुत बढ़ गया, तो इंग्लैंड ने युद्ध में भारत को सहभागी बनाने की सोची। १९४२ में ब्रिटेन के युद्धकालीन मंत्रिमंडल ने कांग्रेस का मन जीतने और देशवासियों का रुख मित्रराष्ट्रों के पक्ष में करने के उद्देश्य से ब्रिटिश पार्लमेंट के मजदूर सदस्य सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारत भेजा। सर स्टैफर्ड १९३९ में भी भारत आ चुके थे और उन्होंने अपनी ईमानदारी और योग्यता की बदौलत जवाहर तथा कांग्रेस का स्नेह और सम्मान अर्जित किया था। वह हमारे घर भोजन करने के लिए आये थे और हम लोग उनकी सादगी, सरलता एवं स्पष्टवादिता से बहुत प्रभावित और उनके प्रशंसक हो गए थे।

क्रिप्स-मिशन ने भारत के सामने निम्न सुझाव रखे, जो युद्ध की समाप्ति पर लागू किये जाने थे—औपनिवेशिक स्वराज्य और विधान बनाने के लिए एक संविधान सभा, और ब्रिटिश भारत का कोई प्रान्त अगर चाहे तो, भावी डोमिनियन (संघ) से उसके अलग रहने का अधिकार। तात्कालिक रूप से

विभिन्न दलों के कुछ भारतीय प्रतिनिधियों का समावेश कर वाइसराय की व्यवस्थापिका परिषद् का विस्तार करने की बात भी थी। लेकिन इन सदस्यों को कोई अधिकार नहीं दिया गया था। खासा बेतुका प्रस्ताव था, जिससे आगे चलकर भारत कई टुकड़ों में बंट जाता और देश की सुरक्षा में भारत-वासियों की कोई आवाज़ न थी। जापान दरवाज़े पर आ पहुंचा था और देश पर उसके आक्रमण का खतरा बहुत ज्यादा बढ़ गया था। कांग्रेस का कहना था कि ऐसे समय युद्ध 'व्यापक जन-समर्थन के आधार पर' ही लड़ा जा सकता है।

प्रस्ताव नामंजूर कर दिये गए। उन्होंने सारे देश में गुस्से और विरोध की लहर उठा दी थी। उधर जापानियो के हाथों अंग्रेज़ों को पिटते और उनका मान-मर्दन होते देख हमें बड़ी तसल्ली होती, लगता जैसे आंसू पुंछ गए!

कांग्रेस हाथ-पर-हाथ धरे चुप बैठी देख तो नहीं सकती थी कि जापान भारत पर अधिकार कर ले, जो किसी भी क्षण हो सकता था। गांधीजी देशवासियों की नब्ज खूब पहचानते थे। उन्होंने महसूस किया कि कुछ करने का ठीक समय आ गया है। लोगों को कांग्रेस के मातहत संगठित और सक्रिय करने के लिए उन्होंने सत्याग्रह की घोषणा कर दी। अपने पत्र 'हरिजन' में एक लेख लिखकर उन्होंने अंग्रेज़ों से कहा :

"आप लोग यहां बहुत रह लिये और हमारी कोई भलाई न की। अब बोरिया-बिस्तरा बांधकर कूच कीजिये। हम आपसे कोई नाता नहीं रखना चाहते। हमें भगवान् के भरोसे छोड़कर आप चले ही जाइये!"

कांग्रेस ने गांधीजी का समर्थन किया और काम में जुट गई। जवाहर पहले तो राज़ी न हुए, क्योंकि वह उस संकट-काल में अंग्रेज़ों को परेशानी में नहीं डालना चाहते थे, लेकिन देश की जनता के बदलते हुए तेवर देखकर उन्होंने गांधीजी का नेतृत्व स्वीकार कर लिया।

७ अगस्त, १९४२ को अखिल भारतीय कांग्रेस समिति (महासमिति) की बैठक बम्बई में हुई। जवाहर, इन्दिरा और फ़ीरोज़ बैठक के कुछ दिन पहले ही बम्बई आ गए और हमेशा की तरह हमारे यहीं ठहरे। हमारे मकान में सोने के सिर्फ तीन कमरे थे, इसलिए राजा ने और मैंने अपना कमरा इन्दिरा और फ़ीरोज़ को दे दिया और हम लोगों ने अपने सोने की व्यवस्था पड़ोस में एक मित्र के यहां करली, जिनके पास एक अतिरिक्त कमरा था। हमारा तीसरा कमरा बच्चों के कब्जे में था।

दिन-भर हमारा बैठकों में जाता, लेकिन बीच-बीच में मैं भोजन आदि का प्रबन्ध करने के लिए घर दौड़ी आती, ताकि मेरे भाई, भतीजी और भतीज-जमाई को किसी तरह की असुविधा और कष्ट न हो। बैठकों के दरमियान मेरे भाई से बातचीत और चर्चा करने के लिए अनगिनत लोग आते। हमारे टेलीफोन और दरवाजे की घण्टी बराबर टुनटुनाती रहती। अकसर आगन्तुक भोजन भी हमारे यहीं करते और ऐन वक्त बढ़े हुए लोगों के लिए खाने का प्रबन्ध करना पड़ता, जिससे मैं और मेरा रसोइया मुसीबत में पड़ जाते। लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारम्भ से ही मैं इस तरह की गृहस्थी की अभ्यस्त थी। चारों ओर का जोशीला वातावरण हमें

इस तरह की मुसीबतों से पार पाने में सहायता करता था।

कांग्रेस की उस महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक बैठक के दौरान हमारे मन में यह आशंका बराबर बनी रही कि 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के पारित हो सकने के पहले ही पुलिस कभी भी झपट्टा मारकर सभी नेताओं को गिरफ्तार कर ले जायगी। इसलिए शुरू के कुछ दिन तो मैंने रातें अपनी बैठक में सोफे पर सोकर गुजारीं—पता नहीं मेरे भाई को गिरफ्तार करने के लिए पुलिस, जैसाकि हमेशा से उसका तरीका रहा था, रात में किस वक्त आ धमके! लेकिन कई दिन बीत गए और कुछ न हुआ, तो मैं ८ अगस्त की रात अपने मित्र के यहां जाकर आराम से सो रही। अधिवेशन की कार्रवाइयां बहुत बोझिल रही थीं और हम काफी थक गए थे। 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव उसी दिन शाम को ६ बजे पारित हुआ था और हम हलकापन महसूस कर रहे थे। भाई घर जाने के लिए अपनी मोटर में बैठ ही रहे थे कि किसी अजनबी ने एक पर्ची थमा दी; उसमें लिखा था कि आज रात सभी नेता गिरफ्तार कर लिये जायंगे। हमने इसपर विश्वास नहीं किया और अगर गिरफ्तारियां हों भी तो हमें कोई परवा न थी। गांधीजी को भी ठीक यही सूचना दी गई थी, लेकिन उन्होंने भी उसपर विश्वास नहीं किया। उनकी दृढ़ मान्यता थी कि देश पर जापानी हमले के खतरे को देखते हुए वाइसराय अराजकता फैलाने वाला इस तरह का कोई कदम नहीं उठायेंगे।

उस शाम हमारे यहां मुलाकातियों की खूब भीड़-भाड़ रही, सभी आन्दोलन के भावी स्वरूप के बारे में चर्चा करने

के लिए आये हुए थे। उनमें दो पत्रकार भी थे—एक अंग्रेज़ और दूसरा अमरीकी—फिलिप तालबोट। वे दोनों ही हमारे मित्र थे। (फिलिप तो यह पुस्तक लिखे जाते समय अपने देश के राजदूत हैं।) बहुत-से मुलाकातियों ने हमारे यहीं भोजन किया और आधी रात के बाद कहीं जाकर भीड़ छंटी और हमें सोना नसीब हुआ। बड़े सवेरे, करीब पांच बजे, हमारे मेज़बान ने दरवाज़ा खटखटाकर हमें जगाया और सूचना दी कि हमारे यहां पुलिस आई है। राजा और मैं फौरन घर दौड़े गए। ब्लैक आउट के बावजूद हमारे फ्लैट की तमाम बत्तियां जली हुई थीं।

मैंने सोचा कि अकेले जवाहर को गिरफ्तार किया जायगा। राजा उनके लिए जेल में पढ़ने को किताबें बटोर रहे थे कि इन्दिरा ने, जिसकी पुलिस से बातें हुई थीं, राजा को बताया कि गिरफ्तार किये जानेवालों में वह भी हैं और इस तरह मेरे भाई और पति को पुलिस पकड़कर ले गई। इन्दिरा, फ़ीरोज़ और मैं एक दोस्त की मोटर में यह पता लगाने के लिए उनके पीछे-पीछे गये कि उन्हें कहां ले जाते हैं। दूर से हमने उनकी गाड़ियों को विक्टोरिया टर्मिनस के अन्दर जाते देखा। स्टेशन तक जानेवाली सभी सड़कों और रास्तों पर पुलिस का भारी पहरा लगा हुआ था। गांधीजी-सहित सभी नेता गिरफ्तार कर लिये गए थे।

इन्दिरा रेल से इलाहाबाद चली गई। उसके वहां पहुंचने के दूसरे दिन पुलिस बड़े सवेरे आनन्द-भवन आई और नान को गिरफ्तार कर ले गई। अब इन्दिरा अपनी तीन नन्हीं फुफेरी बहनों के साथ आनन्द-भवन में अकेली रह गई थी।

फ़ीरोज़ आन्दोलन को गुप्त रूप से (भूमिगत) चलाने के लिए बिना किसीको बताये चुपचाप लखनऊ चला गया था। इन्दिरा को उसके बारे में कुछ भी पता न था। उसकी गिरफ्तारी का वारण्ट जारी हुआ, लेकिन किसीको मालूम नहीं था कि वह कहां है।

एक दिन इन्दिरा ने जानबूझकर गिरफ्तार होना चाहा। एक कालेज के विद्यार्थियों ने उसे अपने यहां कांग्रेसी झण्डा फहराने का निमंत्रण दिया। वह जानती थी कि झण्डा फहराने पर रोक है और उसमें भाग लेनेवाले को गिरफ्तार किया जा सकता है। जब वह वहां पहुंची, तो पुलिस विद्यार्थियों पर लाठियां बरसा रही थी। उसने देखा कि जो लड़का झण्डा लिये हुए था वह लहूलुहान होकर जमीन पर गिर पड़ा है। इन्दिरा ने लपककर झण्डा उठा लिया और उसे फहराने लगी। विद्यार्थी उसे घेरकर खड़े हो गए। अब पुलिस ने इन लोगों को अपना लक्ष्य बनाया। पहले इन्दिरा की पीठ और फिर उसके हाथों पर लाठियां बरसने लगीं, लेकिन उसने न झण्डा छोड़ा, न उसे झुकाया। नेहरू आत्मसमर्पण करना जानते ही नहीं। न पहले कभी किया और न आगे कभी करेंगे। क्या उसके पिता ने घोड़ों की टापों से कुचले जाकर घुड़सवार पुलिस के डण्डे नहीं खाये थे? क्या उसकी बूढ़ी दादी कमज़ोरी और बीमारी के बावजूद तबतक लाठियां नहीं खाती रहीं जबतक कि लहूलुहान होकर जमीन पर गिर न पड़ीं? इन्दिरा उसी पिता की बेटी और उसी दादी की पोती थी। उसने अन्त तक झण्डा अपने हाथ से नहीं छोड़ा।

रात में फ़ीरोज़ छिपकर उसे देखने के लिए आया।

इन्दिरा का उत्साह समा नहीं रहा था, क्योंकि पुलिस के लाठी-चार्ज के बावजूद झण्डा फहराया जा सका था। कुछ दिनों के बाद इन्दिरा ने कांग्रेसी कार्यकर्ताओं की बैठक बुलाकर उन्हें अपने पिता और दूसरे नेताओं के बारे में सच्ची खबरें बताईं, जो उसे प्राप्त हुई थीं। उस समय देश में ये अफवाहें ज़ोरों पर थीं कि सरकार नेताओं को चुपचाप या तो अण्डमान द्वीप के काले पानी ले गई है या पूर्वी अफ्रीका। ऐसी अफवाहों का यह दुष्परिणाम होता कि लोग बौखला जाते और सविनय अवज्ञा आन्दोलन को शान्तिपूर्ण ढंग से चलाने के बजाय हिंसा और हत्याओं-जैसी उग्र कार्रवाइयों पर उतर आते। भारत के ब्रिटिश शासक तो यह चाहते ही थे, जिससे वे अपने दमन-राज्य और बिना मुकदमा चलाये नेताओं और कार्यकर्ताओं को बन्दी शिविरों-जैसी स्थितियों में नज़रबन्द रखने के औचित्य को प्रमाणित कर सकें।

अंग्रेज़ी सरकार द्वारा सार्वजनिक सभाओं पर रोक लगा दी गई। इन्दिरा ने इस निषेध-आज्ञा को तोड़ने का फैसला किया। पर्चे तो छापे नहीं जा सकते थे, इसलिए मुंह-ज़ुबानी प्रचार करके ही सभा करना सम्भव था। कानों-कान खबर करने का यह तरीका बहुत कारगर साबित हुआ और काफी बड़ी संख्या में लोग उसका भाषण सुनने के लिए इकट्ठा हो गए। जैसे ही इन्दिरा ने अपना भाषण शुरू किया, बड़ी संख्या में ब्रिटिश सैनिक बन्दूकें ताने हुए आ धमके और सभा को चारों ओर से घेर लिया। इन्दिरा ने अपना भाषण जारी रखा। इसपर एक गोरा अफसर आगबबूला होकर यह हुक्म देते हुए उसपर झपटा कि भाषण बन्द करो, वरना गोली मार

दी जायगी। ठीक उसी समय एक आदमी लपककर इन्दिरा और उस अफसर के बीच में आ खड़ा हुआ। वह आदमी और कोई नहीं, फ़ीरोज़ था। भीड़ भी उसकी रक्षा के लिए आगे की ओर लपकी और हाथापाई होने लगी। इन्दिरा, फ़ीरोज़ और कई लोग गिरफ्तार कर लिये गए।

उन दिनों जेल जाना बड़े गौरव की बात समझी जाती थी। कई दिनों बाद इन्दिरा ने, उस समय की अपनी मनःस्थिति का वर्णन करते हुए कहा है, "मैंने फैसला कर लिया था कि मुझे जेल जाना ही होगा। उसके बिना बहुत-कुछ अधूरा ही रह जाता। इसलिए अपनी गिरफ्तारी पर मुझे बहुत खुशी हुई।"[1]

इन्दिरा नैनी-जेल पहुंची, जहां उसकी बुआ नान हफ्तों पहले से बन्द थीं। बुआ ने भतीजी का बड़े स्नेह-दुलार से स्वागत किया। कुछ दिनों के बाद नान की सबसे बड़ी लड़की लेखा भी वहां आ गई। नान उन दिनों डायरी लिखती थीं। उससे पता चलता है कि नेहरू लोग मनहूस जेल में भी अपना मनोरंजन किस तरह कर लेते हैं :

सितम्बर १३ : इन्दु लेखा को फ्रेंच सिखाने में सहायता कर रही है।

सितम्बर २३ : पिछली रात इन्दु को बाहर सोने की इजाज़त दी गई, मगर फिर भी वह सारी रात बेचैन रही।

सितम्बर २६ : हमें बताया गया कि स्वास्थ्य के आधार पर इन्दु को रिहा करने की सिफारिश की गई है। उसे लगातार बुखार रहता है।

अक्तूबर २२ : आज सिविल सर्जन इन्दिरा को देखने

आये। उन्हें आदेश दिये गए हैं कि वह उसके स्वास्थ्य की जांच कर अपनी रिपोर्ट सरकार को दें।

नवम्बर २० : कल इन्दिरा की पच्चीसवीं सालगिरह थी। फ़ीरोज़ से उसकी पाक्षिक मुलाकात हुई। जब दफ्तर से लौटी तो बहुत खुश लग रही थी।

नवम्बर २७ : इन्दु और लेखा दोनों ही कल्पना की धनी हैं, इसलिए शायद ही कोई शाम नीरस बीतने पाती है। जेल की जिस बिल्ली का नाम इन्दु ने मेहितावेल रखा है, उसने चार बिलौटे दिये हैं और इन्दु और लेखा फूली नहीं समा रही हैं। बन्द कर दिये जाने के बाद इन्दु और लेखा, पात्र के रूप में बारी-बारी से, नाटक पढ़ती हैं। मैं दर्शक और श्रोता हूं। बड़ा मज़ा आता है।"[२]

इन्दिरा का स्वास्थ्य बराबर खराब चलता रहा। १३ मई, १९४३ को वह नान के साथ रिहा कर दी गई। दोनों पर यह बन्दिश लगाई गई थी कि वे कहीं आयंगी-जायंगी नहीं और न जुलूसों या सभाओं में भाग ही लेंगी। दोनों ने इस तरह का आश्वासन देने से इनकार कर दिया और एक हफ्ते के बाद नान पुनः गिरफ्तार कर ली गई। इन्दिरा को इन्फ्लुएंजा हो गया था, इसलिए वह अकेली रह गई। जवाहर, अहमदनगर किले की तनहाई में, इस बात को लेकर चिन्तित थे कि इलाहाबाद की भीषण गर्मी में उसपर क्या बीत रही होगी। उन्होंने उससे पहाड़ों में किसी ठण्डी और स्वास्थ्य-वर्द्धक जगह जाने का आग्रह किया। एक पत्र में उन्होंने मुझे लिखा, "मेरा खयाल है कि गर्मी और उन तमाम नियामतों का, जिनकी वहां इफरात है, मजा लेने के लिए उसे किसी भी

दिन नैनी (जेल) भेज दिया जायगा।" इन्दिरा बम्बई के निकट पंचगनी के पहाड़ी स्थान में रहने के लिए गई और वहां जाकर अच्छी हुई। अगस्त में जब फ़ीरोज़ जेल से रिहा हुआ तो वह वहां से अपने घर इलाहाबाद लौट आई। आखिर अब जाकर उसे और उसके पति के साथ रहने का अवसर मिला।

भारत उन दिनों बड़े ही संकट-काल से गुजर रहा था। बंगाल के दुर्भिक्ष में लाखों लोग भूख से मर गए थे। कलकत्ता की सड़कें मरे हुए और बेहाल भूखे-मरते लोगों से पट गई थीं। नान रिहा होकर सहायता-कार्य में मदद देने के लिए कलकत्ता दौड़ी गईं, लेकिन उन पर दुःख की गाज गिरी और भागे-भागे घर लौटना पड़ा। उनके पति रणजीत भाई को जेल की कष्टदायी परिस्थितियों में निमोनिया हो गया था। १४ जनवरी, १९४४ को लखनऊ में उनकी मृत्यु हो गई।

११

इन्दिरा का पहला बच्चा

•

जनवरी के आरम्भ में इन्दिरा के पहली बार मां बनने के आसार दिखाई दिये। मार्च में वह गर्भावस्था का समय बिताने और प्रसूति के लिए हमारे पास बम्बई आ गई। फ़ीरोज़ फिर जेल में पहुंच गया था, इसलिए मेरा आग्रह था कि वह आनन्द-भवन में अकेली न रहे। इन्दिरा स्वयं भी बम्बई की चिकित्सा-सुविधाओं से फायदा उठाना और मेरे साथ रहना चाहती थी। बम्बई के प्रसिद्ध स्त्रीरोगविशेषज्ञ डाक्टर शिरोडकर ने बहुत अच्छी तरह उसकी पूरी जांच-पड़ताल की। उसके बाद हम सब, बम्बई से करीब सत्ताईस मील दूर, माथेरान नामक पहाड़ी जगह रहने चले गए।

एक दिन तीसरे पहर हमने काफी दूर से आती, लेकिन बहुत ज़ोर की गड़गड़ाहट की आवाज़ सुनी। इन्दिरा का खयाल था कि बन्दरों की कोई टोली हमारे होटल की टीन की छत पर कूद-फांद रही है। माथेरान में बन्दर बहुत हैं और हम अक्सर उन्हें लेकर हँसी-मज़ाक किया करते थे। रात में हमने रेडियो पर खबर सुनी कि बम्बई के बन्दरगाह में गोला-

वारूद और विस्फोटकों (टी.एन. टी.) से लदे एक जहाज में विस्फोट हो गया, जिससे काफी नुकसान हुआ और शहर का गोदी के पास वाला इलाका तो ध्वस्त ही हो गया। हमें अपने मकान की चिन्ता हुई। एक मित्र के यहां टेलीफोन जोड़ने की कोशिश की; लेकिन लाइन खराब थी। कुछ दिनों के वाद जव वम्बई लौटे तो हमें अपना मकान सही-सलामत मिला। विस्फोट में जो लोग बेघर हुए थे, हम उनकी सहायता में जुट गए।

जव इन्दिरा के वच्चा होने के दिन आ गए तो फ़ीरोज़ भी उसके पास वम्वई आ गया। वह कुछ ही दिनों पहले रिहा हुआ था। २० अगस्त को सवेरे कोई पांच वजे के लगभग इन्दिरा ने हमें वताया कि उसे पीड़ा होने लगी है। हमने फौरन डा० शिरोडकर को टेलीफोन किया कि वह अपने उपचर्या-गृह (नर्सिंग होम) पहुंच जायं और हम इन्दिरा को वहां ले गए। पहला वच्चा होने के कारण वह वहुत डर रही थी और इसरार करती रही कि मैं जच्चाघर में भी उसके साथ ही रहूं। घवराहट के मारे खुद मेरा बुरा हाल हो रहा था और वरावर प्रार्थना करती और मनाती रही कि सव-कुछ सकुशल निपट जाय। मैंने डाक्टर शिरोडकर को (जैसा कि उन्होंने वाद में वताया) वार-वार यह कहकर खूव परेशान कर दिया था, "देखिये डाक्टर, लड़का ही होना चाहिए, क्योंकि मेरे भाई के लड़का नहीं है।" और लड़का ही हुआ, २० अगस्त १९४४ को जन्मा। हम सवकी खुशी का पार न रहा। मैंने जवाहर को तार से खवर की और पत्र भी लिखा। हमेशा की तरह सेन्सरों ने अपना समय लिया और सरकार

ने उन्हें पत्र और तार साथ-साथ ही दिये।

जवाहर ने लिखा :

"खबर पाकर मुझे खुशी हुई। तुम्हारे जितना उछाह जरूर नहीं हुआ, क्योंकि भावनाओं में बह जाना मेरे स्वभाव में कम ही है। परिवार में किसी नये सदस्य का जन्म हमेशा पुरानी यादों को जगा देता है और अपने बचपन की और दूसरों के जन्म लेने की बातें याद आती हैं।...और जब-जब भी किसी का जन्म होता है वह अपने-आप में बिलकुल नई बात होती है, दूसरों की तरह और फिर भी अपनी ही तरह की अनोखी। कुदरत अपने-आपको बराबर दोहराती रहती है; उसकी अपार विविधता का कोई अन्त ही नहीं और हर वसन्त एक कायाकल्प है, हर नया जन्म एक नई शुरुआत, खास तौर पर जब वह नया जन्म हम से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ हो, वह हमारे लिए पुनर्जीवन बन जाता है और हमारी सभी पुरानी आशाओं का केन्द्र।"

डाक्टर शिरोडकर ने मेरी चुटकी ली कि इन्दिरा के लिए तो मैंने लड़का मांगा और अपने लिए लड़की की रट लगाये रही। यह मेरे दूसरे बच्चे के समय की बात है, क्योंकि लड़का तो एक मेरे था और अब मुझे लड़की की उत्कट चाह थी। मेरे भाई और बहन दोनों के यहां सिर्फ लड़कियां हुईं, जिससे अम्मां को, वे पुराने खयालों की थीं, बहुत निराशा हुई। आखिर मेरे पहले बेटे हर्ष के जन्म से उनकी मुराद पूरी हुई और उन्हें एक धेवता मिला। सिर्फ अम्मां ही नहीं, जवाहर, नान और दूसरे बीसियों रिश्तेदारों को उसके जन्म से बहुत खुशी हुई और सबने मुझे इस कदर बधाइयां

दीं, मानो मैंने बड़ा कमाल कर दिखाया हो। जब मेरे दूसरे बेटे अजीत का जन्म हुआ तो अम्मां इसलिए नाराज़ हुईं कि मैंने लड़की क्यों चाही, लड़का क्यों नहीं। उनके बेटे-बेटी के घर चार लड़कियां थीं—चार धेवतियां, और ये सब अपनी बेटी के यहां लड़के-ही-लड़के चाहती थीं—सभी धेवते !

बच्चे के जन्म के बाद इन्दिरा हमारे साथ लगभग दो महीने और रही। जैसे ही इस लायक हुई कि यात्रा कर सके वह फ़ीरोज़ के पास लखनऊ चली गई, जहां उनका मकान था और जिसे अब उनके नन्हे बच्चे ने गुलज़ार कर दिया था। बच्चे का नाम उसकी नानी के नाम पर राजीव रखा गया, क्योंकि राजीव और कमला दोनों ही कमल पुष्प के पर्याय-वाची नाम हैं।

जवाहर को देखे हमें दो साल से भी ज्यादा समय हो गया था, क्योंकि परिवार वालों को इस बार उनसे मिलने नहीं दिया जाता था। हमें उनकी जितनी याद आती उससे कहीं अधिक उन्हें जेल के उन यातना-भरे दिनों में हमारी याद आती और अकेलापन अखरता था। निजी सम्पर्क और मुलाकातों से प्रियजनों के चेहरों की याद और पारस्परिक प्रीति एवं अनुभूतियों का नवीनीकरण और पुनरुज्जीवन होता रहता है। मेरे नाम एक पत्र में उन्होंने अपने अकेलेपन और विलगाव (तनहाई) के बारे में लिखा है :

"लम्बे समय के बाद मुलाकात होने पर क्या हम एक-दूसरे को पहले की ही तरह पहचान और पा सकेंगे ? या हमारे बीच संकोच और बेगानापन होगा, जैसा कि अक्सर उन लोगों से मुलाकात करते वक्त होता है, जिन्हें हम पूरी

तरह जानते-समझते नहीं ? मन की मौज, भावना और कल्पना के अपने-अपने जिन निजी संसारों में हम लोग रहते हैं वे काफी समय से परस्पर इतने दूर हैं कि उनके आपसी परिचय का धुंधला हो जाना बहुत सम्भव है—अलग-अलग घेरे उतने परस्परव्यापी नहीं रह पाते जितने कि हुआ करते थे। यह कुछ तो हमारी उम्र बढ़ने के साथ होता ही है, लेकिन हमारे रहन-सहन की गैरमामूली हालतें इस प्रक्रिया को और भी तेज़ कर देती हैं।"

१२

युद्ध का अन्त

•

फ्रांस में मित्रराष्ट्रों की सेनाओं के उतारे जाने के साथ यूरोप में द्वितीय महायुद्ध का अन्तिम चरण शुरू हुआ। अक्तूबर १९४४ में ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि अहमदनगर किले के वन्दियों को अपने रिश्तेदारों से मिलने दिया जायगा। नान ने और मैंने जवाहर से मिलने की अनुमति मांगी, लेकिन उन्होंने वन्दियों के जिस अधिकार से उन्हें इतने समय तक वंचित रखा गया था उसका उपभोग करने से इन्कार कर दिया। उनका कहना था कि मुलाकात शायद ऐसी हालतों में करवाई जाय, जो 'मेरी और मेरे प्रियजनों की शान' के खिलाफ हो। अप्रैल १९४५ में उनका तबादला बरेली जेल (उत्तरप्रदेश) कर दिया गया।

अप्रैल के मध्य में राजा और मैं छुट्टियां मनाने के लिए काश्मीर गये। वहां इन्दिरा और उसका बेटा भी हमारा साथ देने के लिए आ गए। अपने पुरखों की उस सुन्दर भूमि की यात्रा में हमें बड़ा आनन्द आया। श्रीनगर से हम ऊपर पहाड़ों में गये। वहां किसी तरह के समाचार नहीं मिलते थे, फिर

भी जाने क्यों राजा को ऐसा लगा, मानो कोई महत्त्वपूर्ण घटना हो रही है और वह हमारे लौटने पर ज़ोर देने लगे। हमने अपने डेरे-तम्बू समेटे और पहलगाम लौट आए, जहां से पहाड़ चढ़ना शुरू किया था। पहलगाम की बढ़िया आबोहवा के कारण वहां आमतौर पर यात्रियों की भीड़ लगी रहती थी, लेकिन हमने लौट कर पाया कि सभी श्रीनगर जाने की तैयारियों में लगे थे। हमने किसी तरह एक मित्र की सहायता से मोटर-कार का इन्तज़ाम किया और उससे श्रीनगर आये। वहां इस खबर पर बड़ा जोश फैला हुआ था कि ७ मई को जर्मनी ने आत्मसमर्पण कर दिया इसलिए जवाहर-सहित सभी राजबन्दी रिहा कर दिये गए।

नाज़ियों के हारने की हमें खुशी जरूर हुई, लेकिन स्वतंत्रता और लोकतन्त्र के नाम पर जिस तरह हमारा अपमान किया गया था और हमारे लोगों को ज़बर्दस्ती हमसे जुदा कर जिस अमानुषी ढंग से जेलों में ठूंसा गया था, वह सब याद आते ही मन खिन्न और खट्टा हो गया और सारी खुशी किरकिरी हो गई। अपने भाई की खबर पाने के लिए मैं बेताब हो गई। कुछ दिनों के बाद हमें उनका तार मिला कि गांधीजी से मिलने बम्बई जा रहे हैं और वहां से सीधे इलाहाबाद पहुंचेंगे। उन से मिलने के लिए हम फौरन इलाहाबाद के लिए चल पड़े। इन्दिरा और फ़ीरोज़ भी आनन्द-भवन में उत्कण्ठापूर्वक उनकी प्रतीक्षा करते रहे। एक बार फिर हम सबका मिलन हुआ, साथ रहने का मौक़ा मिला। हमारी खुशी का क्या पूछना!

जून १९४५ में जवाहर को शिमला (राजा और मैं वहां उनके साथ गये थे) सम्मेलन का बुलावा मिला। इस सम्मेलन

में भारत के तत्कालीन वाइसराय लार्ड वेवल भारत की स्वाधीनता के सम्बन्ध में एक योजना प्रस्तुत करने वाले थे। गांधीजी, कांग्रेस की कार्यकारिणी और मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों को बुलाया गया था।

लार्ड वेवल ने भारतीय सदस्यों के बहुमत वाली वाइसराय की कौंसिल अर्थात् व्यवस्थापिका परिषद् (एक्ज़ीक्यूटिव कौंसिल) गठित करने का प्रस्ताव रखा। कौंसिल में सिर्फ दो अंग्रेज़ सदस्यों (एक वाइसराय और दूसरा कमांडर-इन-चीफ) के सिवा शेष सभी भारतीय सदस्य रखने की बात कही गई थी। लेकिन स्वाधीनता और लोकतन्त्र अभी भी दूर की बातें थीं। उस सम्मेलन से जो भी अच्छा नतीजा निकल सकता था उसे मुस्लिम लीग के अध्यक्ष मुहम्मद अली जिन्ना ने अपनी मांगों पर अड़े रहकर चौपट कर दिया। इस सम्बन्ध में मैं अपनी पुस्तक 'हम नेहरू' में लिख चुकी हूं :

"शिमला-सम्मेलन की असफलता के लिए जिन्ना ने यह तरीका अपनाया कि वह वाइसराय की नई कौंसिल के सभी मुसलमान सदस्यों को स्वयं नामजद करने को अपनी मांग पर अड़ गए। मेरे भाई और गांधीजी को यह स्वीकार नहीं था, क्योंकि ऐसा करना उन सभी भले मुसलमानों के साथ विश्वासघात करना होता जो कांग्रेस के प्रति निष्ठावान् रहे थे और जिनमें कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष मौलाना आज़ाद भी थे। गांधीजी और वाइसराय-सहित सभी ने जिन्ना को बहुत समझाया और पूरी कोशिश की कि समझौते की कोई सूरत निकल आये, पर जिन्ना टस-से-मस न हुए। दो हफ्तों की कोशिशों के बाद सम्मेलन भंग हो गया और कुल मिलाकर नतीजा शून्य

ही रहा।"[1]

लार्ड वेवल ने समझौते की ईमानदारी से कोशिशें की होंगी, लेकिन उनके सलाहकार सरकारी सिविल सर्विस के नौकरशाह उनके सारे प्रयत्नों पर बराबर पानी फेरते रहे। समझौता-वार्ता का भविष्य तो तभी पता चल गया था जब मुसलमानों के प्रतिनिधि के रूप में सिर्फ मुस्लिम लीग को बुलाया गया और दूसरे मुस्लिम संगठनों की, जिनके अन्तर्गत देश के अधिसंख्य मुसलमान संगठित थे, उपेक्षा की गई।

वाइसराय की प्रस्तावित कौंसिल में कांग्रेस और मुस्लिम लीग को समान प्रतिनिधित्व देने का प्रावधान था। कांग्रेस ने धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय संगठन होने के कारण प्रस्तावित कौंसिल में अपनी ओर से नामज़द किये जाने वाले पांच सदस्यों में दो कांग्रेसी मुसलमानों का समावेश किया था। जिन्ना कांग्रेस को कौंसिल में किसी भी मुस्लिम सदस्य को नियुक्त करने का अधिकार देने को राज़ी न हुए। वह बराबर यही दावा करते रहे कि मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था होने के नाते मुस्लिम सदस्य की नियुक्ति का अधिकार सिर्फ मुस्लिम लीग को ही है।

जिन्ना और मुस्लिम लीग ने धर्म के आधार पर भारत के विभाजन की भी मांग की। उनका कहना था कि भारत के मुस्लिम-बहुल क्षेत्रों को मिलाकर पाकिस्तान के नाम से एक पृथक् राज्य ही बना दिया जाय। (वैसे पाकिस्तान बनाने का मूल विचार भारतीय प्रशासन-सेवा के एक अंग्रेज अफसर के उपजाऊ दिमाग में पैदा हुआ था।) वास्तव में जिन्ना को धर्म से कोई मतलब नहीं था। वह केवल नाम के मुसलमान थे। असल में वह नया राज्य इसलिए बनाना चाहते थे कि

उसके महान् नेता और सर्वोच्च शासक बन सकें।

ब्रिटेन ने एक बार फिर अपने गुलाम देशों के साथ बरती जाने वाली साम्राज्यवादी शक्तियों की विशिष्ट भेदनीति—फूट डालो और राज्य करो—का अवलम्बन किया। भारत की ब्रिटिश सरकार ने धार्मिक विद्वेष भड़काकर मुस्लिम लीग को शक्तिशाली बनाने के सभी प्रयत्न किये। इससे हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य बढ़ता गया और अंग्रेज़ों को भारत में बने रहने का अच्छा बहाना मिल गया। अगर भारत में रहने वाले लोग आपसी समझौता नहीं कर सकते तो इसके सिवा और चारा ही क्या है कि ब्रिटेन अपना शासन जारी रखे और देश में अमन-कानून बना रहे! कम-से-कम विदेशी शासक यही तर्क देकर भारत में बने रहने के अपने औचित्य को सिद्ध कर सकता था।

तभी भारत के भाग्य का फैसला करने वाली घटनाएं अनपेक्षित रूप से घटित हुईं। इंग्लैंड के आम चुनाव में चर्चिल की सरकार हार गई और उसके स्थान पर २६ जुलाई १९४५ को क्लोमेंट एटली के प्रधानमंत्रित्व में मज़दूर दल शासनारूढ़ हुआ। एटली की सरकार ने भारत में ऐसी संविधान-निर्मात्री परिषद् के चुनाव का आदेश दिया, जो हमारे देश को स्वराज्य प्रदान कर सके।

अब भारत में अंग्रेज सशस्त्र सैनिकों की स्वामि-भक्ति पर निर्भर नहीं कर सकता था। सिंगापुर में जो भारतीय सेना थी, उसके अधिकांश सैनिक सुभाष बोस की आज़ाद हिन्द फौज (आई० एन० ए०) में भर्ती होकर अंग्रेज़ों से लड़ चुके थे। १९ फरवरी, १९४६ को नौसैनिकों ने अपने अंग्रेज

अफसरों के दुर्व्यवहार के खिलाफ बम्बई में विद्रोह कर वहां के बन्दरगाह के सभी जहाज़ों पर कब्जा कर लिया था। अब भारत पर पहले की तरह राज्य करने के लिए अंग्रेज़ों को बहुत से आदमियों, साज-सामान और साधनों की ज़रूरत होती, जो युद्ध की समाप्ति पर (अगस्त १९४५ में) इंग्लैंड के लिए बिलकुल ही सम्भव नहीं था। फिर इंग्लैंड की मज़दूर सरकार भारत से समझौता करने के पक्ष में थी और मानसिक रूप से उसके लिए तैयार भी थी।

इसलिए मार्च १९४६ में इंग्लैंड से एक 'केबिनेट मिशन' नई दिल्ली आया, जिसका उद्देश्य भारत के सभी राजनैतिक दलों से विचार-विनिमय कर भारत की स्वाधीनता का सर्वसम्मत हल खोजना था। लेकिन कांग्रेस, जो भारत के विभाजन के विपक्ष में थी और मुस्लिम लीग की परस्पर-विरोधी मांगों के कारण कोई परिणाम न निकला। अन्त में केबिनेट मिशन ने अस्थायी सरकार की नियुक्ति और संविधान बनाने के लिए एक संविधान परिषद् आयोजित करने की अपनी ही योजना की घोषणा की। योजना में संघवाद पर आधारित भारतीय संघ राज्य (फेडरेटेड इंडियन यूनियन) और हिन्दू-मुसलमानों के समान प्रतिनिधित्व वाली केन्द्रीय सरकार की बात कही गई थी।

कांग्रेस की कार्यकारिणी ने इस योजना पर बहुत गम्भीरता से विचार किया, लेकिन उसे स्वीकार तभी किया गया जब लार्ड वेवल ने अस्थायी (अन्तरिम) सरकार की नियुक्ति की घोषणा कर दी। ७ जुलाई को योजना के समर्थन और स्वीकृति के लिए बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस

समिति (महासमिति) की बैठक हुई। १२ अगस्त को वाइसराय की ओर से जवाहर को, कांग्रेस अध्यक्ष के नाते, अन्तरिम सरकार बनाने का निमंत्रण प्राप्त हुआ।

मुस्लिम लीग ने तो योजना को जून में ही स्वीकार कर लिया था, लेकिन जिन्ना को अपने इस कार्य के लिए तुरंत पछताना भी पड़ा और जब कांग्रेस ने इसे स्वीकार कर लिया तो वह और भी खिन्न और रुष्ट हुए। उन्होंने खिसियाकर लीग का समर्थन वापस ले लिया। लीग की २७ जुलाई की सभा में उन्होंने लीग के सदस्यों को हिन्दुओं के खिलाफ जिहाद शुरू करने के लिए कहा। नफरत पैदा करने वाले उनके उग्र भाषण से प्रभावित लीग ने 'सीधी कार्रवाई' का प्रस्ताव अंगीकार किया और उसे अमली रूप देने के लिए १६ अगस्त को प्रतिवाद-दिवस मनाना तय किया।

१३

दूसरा बच्चा

•

इस सारे समय इन्दिरा, उसका बच्चा राजीव और फ़ीरोज़ आनन्द-भवन में ही रहे। इन्दिरा तो अपने पुत्र के लालन-पालन में लगी रही और फ़ीरोज़ ने सचित्र पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखकर उन सुन्दर और बढ़िया तसवीरों का सदुपयोग किया जो उसने यूरोप में उतारी थीं। कुछ वह बीमे का काम भी करता था। उसकी देख-रेख में आनन्द-भवन का बागीचा सुन्दर फूलों से लहलहा उठा। अपने घर को पुरानी सुषमा और गरिमा से मंडित होते देख मुझे बड़ी प्रसन्नता होती थी।

नवम्बर १९४६ में फ़ीरोज़ 'नेशनल हेराल्ड' का प्रबन्ध-सम्पादक बनकर लखनऊ चला गया। जवाहर ने १९३७ में इस अंग्रेज़ी दैनिक की स्थापना की थी। बाद में उन्होंने इस पत्र के संचालक-मण्डल से त्यागपत्र दे दिया। पत्र निकालने का विचार भाई को पिताजी से मिला था। वह भी बरसों पहले अपना एक अंग्रेज़ी दैनिक 'दि इंडिपेंडेंट' निकाल चुके थे, जो सिर्फ तीन बरस चला और जब पिताजी कांग्रेस में

शरीक हो गए और उसे चलाना उनके लिए सम्भव न रहा (वह पत्र बराबर भारी घाटा ही देता रहा), तो पत्र वन्द हो गया। १६४२ में, जब 'भारत छोड़ो' आन्दोलन शुरू हुआ तो 'नेशनल हेराल्ड' को भी अपना प्रकाशन स्थगित कर देना पड़ा था, क्योंकि सेंसर करवाने से उसने इनकार कर दिया था। नवम्बर १६४६ में पत्र का प्रकाशन पुनः आरम्भ हुआ और फ़ीरोज़ अपने परिवार के साथ लखनऊ रहने लगा।

लखनऊ में फ़ीरोज़ ने एक छोटा-सा मकान लिया और उसे वड़ी तबीयत से सजाया-संवारा। फर्नीचर उसने अपनी पसन्द का बनवाया और यहां भी अपना उद्यान-प्रेम उसने जारी रखा। 'नेशनल हेराल्ड' को आत्मनिर्भर वनाने के लिए वह सारा दिन और रात में भी देर तक काम किया करता। हमेशा अर्थ-कष्ट में रहनेवाला पत्र फ़ीरोज़ के कुशल प्रवन्ध में जल्दी ही अपने पैरों पर खड़ा हो गया। प्रेस में काम करने की जितनी भी गुंजाइश थी उसका उसने समझदारी से उपयोग किया और छपाई का काम लेना शुरू कर दिया। फ़ीरोज़ रात दिन काम में जुटा रहनेवाला, मशीनों का प्रेमी, मजदूरों का स्नेहभाजन और पत्र के सम्पादक के शब्दों में 'सामान्य विशेषताओं" का आदमी था।

इन्दिरा घर-गिरस्ती के कामों के अलावा स्थानीय कांग्रेस की गतिविधियों और समाज-कल्याण के कार्यों में लगी रहती। फ़ीरोज़ और इन्दिरा दोनों ही प्रगतिशील समाजवादी विचारों के थे, इसलिए कई युवक राजनैतिक कार्यकर्ता और नेता अक्सर उनके घर आते रहते थे; लेकिन दोनों के स्वभाव में बड़ा अन्तर था—इन्दिरा संकोची और मितभाषिणी है तथा

फ़ीरोज़ वहिर्मुख और बेतकल्लुफ़ (निस्संकोच था)। लखनऊ के उनके छोटे-से घर का जीवन ठीक वैसा तो नहीं था, जिसकी इन्दिरा आनन्द-भवन में अभ्यस्त रही थी, लेकिन दोनों में खूब स्नेह-प्रेम था और दोनों ही एक-दूसरे को समझने और परस्पर सहायता करने के लिए उत्सुक और प्रस्तुत रहते थे।

अस्थायी सरकार के प्रधान मंत्री होने के कारण जवाहर का नई दिल्ली रहना ज़रूरी हो गया था। वह दिल्ली में यार्क रोड पर १७ नम्बर के एक छोटे मकान में रहने लगे। उस मकान में उनके निवासस्थान के अलावा एक बड़ा दीवानखाना, परिवार के लोगों के लिए कमरे और उनके कर्मचारियों के काम करने की जगह भी थी। जवाहर के इस दिल्ली-स्थित घर को जमाने और सुव्यवस्थित करने के लिए इन्दिरा और मैं लखनऊ और बम्बई से नई दिल्ली दौड़ती रहती थीं। इन्दिरा जब भी सम्भव होता, अपने पिता की सेवा-सहायता के लिए लखनऊ से आ जाती, परन्तु उसके फिर बच्चा होनेवाला था, इसलिए भाई के मेहमानों के स्वागत-सत्कार का दायित्व अक्सर नान और मुझी को निभाना पड़ता था। इन्दिरा की प्रसूति का स्थान नई दिल्ली ही रखा गया, क्योंकि वहां राजधानी होने के कारण लखनऊ से ज्यादा अच्छी चिकित्सा-सुविधाएं थीं।

राजा और मैं अमरीका की अपनी पहली भाषण-यात्रा पर १९४७ के जनवरी के प्रारम्भ में प्रस्थान करने वाले थे। लेकिन जाने से पहले मैं जवाहर और इन्दिरा से मिल लेना चाहती थी, इसलिए दिसम्बर में उनके पास दिल्ली गई। उसके

बच्चा होने से पहले मेरे अमरीका जाने की बात इन्दिरा को पसन्द नहीं आई और वह खिन्न हो गई। उसके पहले बच्चे के जन्म के समय मैं उसके पास थी और वह चाहती थी कि इस बार भी रहूं। मेरे बम्बई लौटने के एक दिन पहले उसका डाक्टर उसे देखने के लिए आया। उसने कहा कि अभी तीनेक हफ्ते बाकी हैं और फिर बोला, "आप कल जा रही हैं, इसलिए वह खिन्न है।" मैं बड़ी खुशी से अपनी अमरीका-यात्रा स्थगित कर देती, परन्तु डाक्टर ने यह कहकर निश्चिन्त कर दिया कि दूसरी प्रसूति होने के कारण ज्यादा तकलीफ नहीं होगी।

उस रात सारे परिवार ने साथ बैठकर भोजन किया—मैं, जवाहर और इन्दिरा तो थे ही, लखनऊ से फ़ीरोज़ आ गया था और सिन्धिया स्कूल से मेरे दोनों लड़के भी छुट्टियों में आये हुए थे। उस रात खूब मज़ा आया। जवाहर ने अपनी विनोदपूर्ण बातों से हमें इतना हँसाया कि पेट में बल पड़ गए। इन्दिरा भी खूब खुश नज़र आ रही थी। उसी दिन आधी रात के बाद कोई तीन बजे के लगभग इन्दिरा की नौकरानी ने मुझे जगाकर कहा कि बीबीजी को पीड़ा होने लगी है। मुझे विश्वास न हुआ। उसकी इस हार्दिक इच्छा के ही कारण कि प्रसव के समय मैं उसके पास रहूं, शायद पीड़ा होने लगी थी। फ़ीरोज़ और मैं, जवाहर को बिना जगाये, उसे अस्पताल ले गए और डाक्टर को बुलवाया। इतने सवेरे बुलाने के कारण वह थोड़ा झुंझला गया और उसने मुझे इन्दिरा के पास जच्चाघर में रहने की अनुमति नहीं दी। मैं और फ़ीरोज़ ठण्डे गलियारों में चक्कर काटते रहे।

समय काटे नहीं कट रहा था, लगता था जैसे घण्टों गुज़र

गए; फिर डाक्टर आया और उसने हमें बताया कि इन्दिरा को बहुत तकलीफ हुई, काफी खून गया और उसने किसी तरह 'जान बचा दी।' लड़का है या लड़की? हमारे इस सवाल का जवाब देने की उसने जरूरत ही नहीं समझी। जैसे ही नर्सों से मालूम हुआ कि लड़का हुआ है, हमने जवाहर को फोन किया और वह फौरन अस्पताल दौड़े आये। अपनी बेटी को एकदम इतना कमजोर, सफेद और रक्तहीन देखा तो वह भी घबरा गए।

इन्दिरा ने अपने दूसरे बेटे का नाम संजय रखा। भाषण-यात्रा पर रवाना होने से पहले बम्बई में मुझे उसका पत्र मिला, जो उसने अस्पताल से लिखा था :

"प्यारी चित्ती,

"हमेशा चाहती हूं कि आपका धन्यवाद किया करूं। वैसे जो-कुछ मेरे मन में है उसे व्यक्त करने का यह कोई बहुत उपयुक्त तरीका नहीं है। कितना चाहती हूं कि बदले में आपके लिए भी कुछ कर सकूं। यह जो मुझे 'बेटी' मानकर आप छुट्टी पा लेती हैं इससे मुझे ज़रा भी सन्तोष नहीं होता।

"मैं तो इसे सचमुच अपना सौभाग्य मानती हूं कि बच्चा होने के समय आप यहां थीं। ऐसे समय अकेले होने का मुझे बड़ा डर लग रहा था।...आप में एक खूबी है और वह यह कि जब भी मुझे किसी के सहारे की ज़रूरत पड़ी, आप हमेशा हाज़िर हो गईं और वह भी एक बार नहीं, अनेक बार।"

दो दिन बाद राजा के हाथों दूसरा पत्र मिला। वह जवाहर के बुलावे पर दिल्ली गये थे। भाई उन्हें मलय में भारत का उच्चायुक्त बनाकर भेजना चाहते थे। राजा ने इनकार कर

दिया। उनका खयाल था कि अभी कई बरसों तक सच्चा काम भारत में ही करने का है, विदेश के भारतीय दूतावासों में नहीं। इन्दिरा ने लिखा था :

"मेरे मन में आपके लिए अपार स्नेह और आदर है और वह इसलिए नहीं कि आप मेरी बुआ हैं। आज भी याद है कि जब निरी बच्ची थी, तब भी आपका कितना सम्मान और कितनी पूजा करती थी। उम्र के साथ आपके प्रति मेरा स्नेह-सम्मान बढ़ा ही है, कम नहीं हुआ। आपने मेरे और मेरे बच्चों के लिए जो-कुछ भी किया, उसने हमें परस्पर स्नेह-सूत्र में आबद्ध कर लिया है, जो दिनोंदिन दृढ़तर ही होता जायगा।"

मुझे इन्दिरा के धन्यवाद की जरूरत नहीं। मैंने उसे अपनी बेटी की ही तरह प्यार किया है। उसके ये पत्र मेरी अनमोल निधि हैं और मेरे लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण भी।

१४

विभाजन और हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा

•

जवाहर ने सरकार बनाने का वाइसराय का निमन्त्रण स्वीकार किया ही था कि कलकत्ते में १६ अगस्त, १९४६ को दंगों की भीषण आग धधक उठी। मुस्लिम लीग ने 'सीधी कार्रवाई' के लिए यही दिन निर्धारित किया था। कुछ ही दिन पहले जिन्ना ने कहा था :

"हमने पिस्तौल तान ली है और उसके बल पर पाकिस्तान लेकर रहेंगे।"

बंगाल में मुस्लिम लीग का मन्त्रिमंडल था और प्रादेशिक सरकार हाथ-पर-हाथ धरे बैठी रही और उपद्रवी लोग उन्मत्त होकर हत्या, बलात्कार, लूट-पाट और आगज़नी करते रहे। जिन्ना और लीग हिन्दुओं के खिलाफ साम्प्रदायिक विद्वेष और हिंसा को भड़काते रहे; इसका परिणाम मुसलमानों के लिए अच्छा न हुआ, हिन्दू भी बदले की भीषण कार्रवाइयों पर उतर आए।

१९४६ में ब्रिटिश सरकार भारत से गई नहीं थी। देश के शासक के नाते 'कानून और व्यवस्था' को बनाये रखना

उसका खास फर्ज़ था। वे अमानुषी दंगे देश के विभाजन की ब्रिटिश नीति के सर्वथा उपयुक्त ही थे। यह अपने देशवासियों की ओर से सफाई नहीं है, क्योंकि उन दिनों मेरे देश के लोगों ने जो लज्जाजनक कांड किये, उनसे इनकार नहीं किया जा सकता; लेकिन यह भी याद रखना होगा कि अंग्रेज जिस उपनिवेश से भी विदा हुए, उसके टुकड़े करके ही वहां से हटे, जैसा कि उन्होंने पहले आयरलैंड में और बाद में भारत में किया। इस तरह अराजकता और अन्धाधुन्धी फैलाकर किसी भी देश को, जहां तक हो सके, अपने कब्ज़े में किये रहने की यह उनकी एक चाल रही है।

और इसीलिए खून-खच्चर होता रहा। कलकत्ता से पूर्वी बंगाल और नोआखाली से बिहार और उत्तर भारत के नगरों और कस्बों तक यह आग फैलती चली गई, जिसे एक शेखीबाज़ के थोथे घमण्ड और एक डूबते हुए साम्राज्य की खिसियाहट ने मिलकर भड़काया था और जिसमें अनगिनत बेगुनाह मर्द, औरतें और बच्चे स्वाहा हो गए। जब रोम जला तो सिर्फ एक नीरो बांसुरी बजा रहा था; यहां दो थे—एक जिन्ना और दूसरा वाइसराय। उस भीषण नर-मेध को रोकने के लिए दोनों में से किसी ने उँगली तक नहीं उठाई।

सत्य और अहिंसा के प्रचारक अकेले गांधीजी इस आग को बुझाने के लिए प्रेम और मैत्री का अपना सन्देश लेकर गांव-गांव दौड़ रहे थे। वह एक गांव में आग बुझाते तो वह दूसरे में भड़क उठती। आज इतने दिनों के बाद उस समय की हमारी मनोवेदना को समझ पाना दूसरों के लिए मुश्किल ही होगा, जो दोस्तों के रातोंरात अकारण ही दुश्मन बन जाने

पर हमें होती थी। एक गांव से दूसरे गांव नंगे-पांव दौड़ रहे गांधीजी की उस समय की मनोव्यथा रवीन्द्र के इस प्रसिद्ध गीत में अभिव्यंजित होती है :

चल अकेला ही !
यदि तेरी पुकार सुन कोई न आये, तव चल अकेला ही !
यदि कोई बात न करे, अरे ओरे ए अभागे,
यदि सब रहें मुंह फेर, सभी करें भय
तब साहस से
ओ तू, मुंह खोल अपने मन की बात कह अकेला ही !
यदि सब जाएं लौट, अरे ओरे ए अभागे,
यदि दुर्गम पथ चलते-चलते मुड़कर न ताके कोई
तव पथ के कांटे
ओ तू, रक्तरंजित चरण-तलों से रौंद अकेला ही !
यदि दीप ना दिखायें, अरे ओरे ए अभागे,
यदि झड़ी बरसती अन्धरात में द्वार बंद हों सबके
तब वज्र अनल से
अपना छाती-पंजर ज्वालित कर जलता चल अकेला ही !

जवाहर ने स्वयं बड़ा खतरा उठाकर लोगों को धीरज बंधाने के लिए दंगाग्रस्त क्षेत्रों का दौरा किया और उन्हें शान्ति तथा साहस से काम लेने की सलाह दी। उपद्रव के दिनों में ही लीग ने अस्थायी सरकार में सम्मिलित होने का फैसला किया ताकि कांग्रेस से अन्दर से भी लड़ा जा सके। लीग की इस चाल को कामयाब बनाने में ब्रिटिश सरकार के वरिष्ठ अधिकारियों ने उसकी पूरी सहायता की। जवाहर ने वाइसराय लार्ड वेवल पर "गाड़ी (अर्थात् सरकार) के पहिये

निकालने" का आरोप लगाया। १९४७ के आरम्भ में लार्ड वेवल की जगह लार्ड माउंटबेटन को भेजा गया और एटली सरकार ने जून १९४८ तक भारत से हट जाने के अपने निर्णय की घोषणा की।

३ जून, १९४७ को लार्ड माउंटबेटन ने भारत के विभाजन की योजना प्रस्तुत की। यह हमारे देश को भारतीय संघ और पाकिस्तान नाम से दो हिस्सों में बांटने की योजना थी—हिन्दू-बहुल क्षेत्रों को मिलाकर भारतीय-संघ और मुस्लिम-बहुल क्षेत्रों को मिलाकर पाकिस्तान।

मुस्लिम लीग तो शुरू से ही बंटवारे के पक्ष में थी और उसके लिए आन्दोलन भी करती रही थी इसलिए उसने फौरन बंटवारे की योजना मंजूर कर ली। कांग्रेस ने, जवाहर और सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में, काफी विचार-विमर्ष के बाद जब यह देखा कि योजना को अस्वीकार करने का मतलब अराजकता होगा, तो शान्ति और स्वाधीनता की खातिर विवश होकर ही विभाजन को स्वीकार किया। अकेले गांधीजी अन्त तक बंटवारे का विरोध करते रहे। उन्होंने लिखा :

"उसे (ब्रिटिश सरकार को) सिर्फ इतना ही करना है कि वादा की हुई तिथि को या उसके पहले ही, चाहे तो अराजकता-पूण स्थिति में भी, भारत को छोड़कर यहां से हट जाय।"

बंटवारे को मंजूर करना उन्होंने इस बात की स्वीकृति माना कि "हिंसा के अकांड तांडव द्वारा सब-कुछ मिल जाता है।"

१८ जुलाई को पार्लमिंट ने ब्रिटिश शासन को समाप्त

करने का विधेयक पारित किया, जो १५ अगस्त १९४७ को प्रभावशील हुआ।

१४ अगस्त की रात को भारतीय स्वतंत्रता की अगवानी के लिए झुण्ड-के-झुण्ड लोग घरों से बाहर सड़कों पर निकल आये। अनन्त बलिदानों और अपार कष्टों से भरा स्वतंत्रता-का सुदीर्घ संघर्ष अब समाप्त हुआ। १५ अगस्त के स्वतंत्रता दिवस पर हम लोग उत्साह, उमंग और गर्व से भर उठे, क्योंकि हमने स्वाधीनता के संघर्ष में भाग लिया था। बरसों आज़ादी के लिए काम करते रहने के सिवा हमने और कुछ नहीं सोचा था और तब हमें सपने में भी यह गुमान नहीं था कि अपने जीवन-काल में आज का दिन देखने का अवसर मिलेगा। नई दिल्ली में असेम्बली को संबोधित करते हुए जवाहर ने कहा :

"बरसों पहले हमने भाग्य को ललकारा था और आज हमारे उस प्रण को पूरा करने का समय आया है—पूरी तरह या पूरे पैमाने पर तो नहीं, फिर भी पर्याप्त मात्रा में।"

अब भारत ब्रिटिश राज्य से मुक्त हो गया था।

लेकिन साथ ही हम उदास भी हो गए। आज़ादी जरूर मिली थी, लेकिन हमारे देश के टुकड़े कर दिये गए थे और धर्मोन्माद को बेलगाम छोड़ दिया गया था। नेहरू-परिवार के हम लोगों का लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा नास्तिवादी वातावरण में हुई थी और हम धर्म के आधार पर लोगों में किसी तरह का भेदभाव करना-बरतना नहीं जानते थे, इसलिए विरोधी धर्मों के अनुयायियों का आपस में लड़ना और खून-खच्चर करना हमारी समझ के परे था और वीभत्स थी।

मुसलमान सैकड़ों बरसों से भारत का अभिन्न अंग बन

गए थे। मनुष्य-कुल और दूसरी दृष्टियों से भी वे हमारे और हममें से ही थे। उनका और हमारा इतिहास एक था। जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं, वह हिन्दू धर्म और इस्लाम का समन्वित रूप है। हमपर आक्रमण करनेवाले मुसलमानों की कई प्रथाओं और परम्पराओं को हमने अपने में रचा-पचा लिया था। कुछ हिन्दुओं ने इस्लाम कबूल कर लिया था, लेकिन अधिसंख्य हिन्दू धर्म को ही अपनाये रहे। फिर भी जब मुस्लिम लीग और मुहम्मद अली जिन्ना ने, जो स्वयं सिर्फ एक पीढ़ी पहले हिन्दू थे, उन लोगों के खिलाफ, जो पहले उन्हींके भाई थे, जिहाद का नारा दिया तो देश की अनपढ़ जनता ही एक-दूसरे के खून की प्यासी होकर आपस में नहीं गुथ गई, पढ़े-लिखे लोग भी धर्म और सम्प्रदाय की लड़ाई में आ कूदे! हमारे बहुत-से मित्र अपने पुरखों का घर-द्वार छोड़कर ज्यादा अच्छे भविष्य की आशा में पाकिस्तान चले गए। लेकिन पाकिस्तान से आनेवाले लाखों लोगों को और भारत से जानेवाले लाखों लोगों को अपना सर्वस्व गंवाकर शरणार्थी हो जाना पड़ा। भारत फिर भी धर्मनिरपेक्ष राज्य था और बराबर अपनी धर्मनिरपेक्षता को प्रतिपादित करता रहा, इसलिए लाखों मुसलमान भारत में ही रहे, अपना देश छोड़कर पाकिस्तान नहीं गये। जवाहर और उनकी सरकार ने बिना किसी भेदभाव के उनकी हर तरह रक्षा की।

१५ अगस्त का उत्सव अभी खत्म भी नहीं होने पाया था कि पंजाब में पचास लाख हिन्दू और सिख शरणार्थियों के कत्लेआम की नई खबर ने दिल्ली में दंगा भड़का दिया। अपनी सुरक्षा की कोई चिन्ता किये बिना जवाहर ने लोगों

को शान्त करने और मुसलमानों की हिफ़ाजत के लिए दंगाई इलाकों का दौरा किया। उनके दुःख का कोई पार न था। बड़ी निर्भीकता और दृढ़ता से उन्होंने नृशंसतापूर्ण कार्रवाइयों की निन्दा की और लोगों से पशुओं की तरह नहीं, मनुष्य की तरह आचरण करने का अनुरोध किया। मुस्लिम आबादी को दंगाग्रस्त क्षेत्रों से निकाल कर सुरक्षित कैम्पों में पहुंचाने के कार्य में स्वयं उन्होंने मदद की और अपने घर में भी कुछ शरणार्थियों को ठहराया।

पंजाब के हत्याकांड ने कलकत्ता में पुनः नफरत की आग सुलगा दी। हिन्दुओं की एक क्रुद्ध भीड़ ने गांधीजी पर, जो उस समय कलकत्ता में थे, हमला कर दिया। १ सितंबर को उन्होंने दूसरी बार आमरण अनशन इस आशा में शुरू किया कि उससे हिन्दू और मुसलमानों में सुलह और शान्ति हो सके। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, "जो काम मेरे बोलकर समझाने से नहीं हो सकता, वह शायद उपवास से हो जाय।" अनशन शुरू करते समय ही उन्होंने यह घोषणा कर दी थी कि उपवास तभी टूटेगा जब हिन्दू-मुसलमानों की हत्याएं बन्द हो जायंगी। उनके उपवास का चमत्कारिक असर हुआ। दोनों सम्प्रदायों ने शान्ति बनाये रखने की प्रतिज्ञा की।

गांधीजी ९ सितम्बर, १९४७ को दिल्ली आये तो सारा शहर दंगों के कारण अस्त-व्यस्त हो रहा था। जवाहर और उनकी सरकार ने हिंसा के खिलाफ कड़े कदम उठा रखे थे, लेकिन गांधीजी को पुलिस और फौज द्वारा लगाये गए प्रतिबन्ध ज़रा भी न सुहाये। वह तो लोगों का हृदय-परिवर्तन चाहते थे। इसके लिए उन्होंने दिल्ली को ही अपना केन्द्र

बनाया। एक दिन मैं भी युवक और युवतियों के एक दल के साथ उनसे मिलने के लिए गई थी। उन दिनों दिल्ली में साम्प्रदायिक विद्वेष, पारस्परिक कटुता और हिंसा-भावना इतनी बढ़ गई थी कि मौलाना आज़ाद जैसे सम्माननीय और वयोवृद्ध कांग्रेसी नेता तक का जीवन सुरक्षित नहीं रह गया था। गांधीजी इसके खिलाफ फिर उपवास पर थे। उन्होंने हम से कहा कि अपने-आपको सच्चा देशभक्त समझने वाले हर हिन्दुस्तानी को भारत की जनता की एकता के लिए काम करना चाहिए। इन्दिरा और हम सभी ने इसके लिए काम करने की प्रतिज्ञा की।

इन्दिरा दूसरे बच्चे के जन्म के बाद से ही खून की कमी के कारण कमज़ोर चली आ रही थी और अभी तक स्वस्थ नहीं हो पाई थी। लेकिन वह शरणार्थियों की सहायता के काम में साहसपूर्वक जुट गई। अपने पिता का दुःख उससे देखा नहीं जाता था, इसलिए उनका हाथ बंटाने और बोझा कुछ कम करने के लिए वह प्रस्तुत हो गई। अपने बच्चों की सार-संभाल का प्रबन्ध कर वह शरणार्थी-शिविरों में चली जाती और वहां नफ़रत से भरे दिलों की कड़वाहट को मिटाने के साथ-साथ उन मुसीबत के मारों की तकलीफों में राहत पहुंचाने की कोशिश भी करती थी। जवाहर की बेटी की सहानुभूति-भरी सेवा और सहायता का शरणार्थियों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा।

जब पाकिस्तान से वहां के हिन्दुओं पर नये सिरे से अत्याचार किये जाने की खबर मिली तो दिल्ली में पुनः उपद्रव शुरू हो गए। भीड़ ने एक गरीब मुसलमान का मकान

घेर लिया, और जो भी घर के अन्दर थे, उन सबको जान से मारने पर उतारू हो गई। जैसे ही इन्दिरा को पता चला वह फौरन उस जगह पहुंच गई। जाकर देखा तो घिरे हुए लोगों को बचाने के लिए न तो पुलिस थी और न रक्षादल के सदस्य ही। भीड़ ने इन्दिरा को भी गालियां और धमकियां दीं, परन्तु वह उत्तेजित लोगों के बीच से रास्ता बनाती हुई घर के अन्दर चली गई। बेचारे घरवाले अपने प्राणों के भय से एक कोने में दुबके थर-थर कांप रहे थे। इन्दिरा ने उन्हें हिम्मत बंधाई और कहा कि डरो मत, मेरे पीछे-पीछे चले आओ। गुस्से से बिफरे हुए हिन्दू गालियां बकते और उसका अपमान करते रहे (रोकने की हिम्मत किसी को न हुई), पर वह पूरे मुस्लिम परिवार को जीप में बिठाकर अपने पिता के घर सुरक्षित ले आई।

आखिर लोगों का विवेक जाग्रत हुआ। उनका गुस्सा शान्त होने लगा, और हिंसक कार्रवाइयों का दौर भी खत्म हुआ। दोनों सम्प्रदायों के नेताओं द्वारा शान्ति बनाये रखने की प्रतिज्ञा को गांधीजी ने स्वीकार किया और अनशन तोड़ा।

जनवरी १९४८ में, अपने भाई के निमंत्रण पर, मैं एक बार फिर दिल्ली आई। मेरी तबीयत अच्छी नहीं थी। भाई ने यह सोचकर बुला भेजा कि दिल्ली की ठण्डी आबोहवा मेरे स्वास्थ्य के लिए लाभदायी होगी। मैं गांधीजी से मिलना चाहती थी। उनके सचिव ने इसके लिए २९ जनवरी का दिन तय किया। दुपहर का समय खास तौर पर इसीलिए रखा गया था कि मुलाकातियों की भीड़-भाड़ न रहने से हम लोग आराम से बातचीत कर सकें। निर्धारित समय पर इन्दिरा,

उसका बेटा राजीव, पद्मजा नायडू और मैं उनसे मिलने पहुंचे। उस समय वह बागीचे में बैठे दुपहर का भोजन कर रहे थे। भोजन में वही हमेशा की उबली हुई सब्जियां थीं। नोआखाली के किसानों वाला घास का टोप उन्होंने पहन रखा था। हमने प्रणाम किया तो मुस्कराकर बोले, "मेरा यह टोप तुम्हें कैसा लगा ? मैं इसे पहन कर ज्यादा सुन्दर लगता हूं न ?" हम हँस पड़े और उनके पास बैठ गए। उन्होंने सभी से अलग-अलग पूछा कि आजकल क्या कर रही हो और घर के लोग कुशलपूर्वक तो हैं न ? हाल के उपवास के बावजूद वह बहुत चुस्त-दुरुस्त लग रहे थे और उनका उघाड़ा शरीर स्वास्थ्य की लाली से दमक रहा था। इन्दिरा के चार साल के बेटे राजीव को जाने क्या धुन सवार हुई कि बैठे-बैठे उनके पांवों में फूलों की माला लपेटने लगा। बापू ने बड़े दुलार से उसके कान खींचकर कहा, "यह क्या कर रहे हो ? जिन्दा आदमी के पांवों में भी भला कोई फूल चढ़ाता है ?" राजीव बच्चा जो ठहरा, वह क्या समझता ! मैंने फौरन माला वहां से हटा दी।

मुलाकात का समय पूरा हुआ और हम लोग उठे तो मैं थोड़ा ठिठक गई। गांधीजी ने पूछा, "कोई खास बात तो नहीं है ?" मैंने कहा, "आप से फिर और अकेले में मिलना चाहती हूं।" उन्होंने प्यार से हाथ खींचकर मुझे अपने पास बिठा लिया और अपनी बांह मेरे गले में डालकर बोले, "बहुत लोग मुझसे मिलना चाहते हैं। मैं उन्हें मना कैसे कर सकता हूं ? दूसरी बार तो तुम्हें मुझ से शायद भीड़-भाड़ में ही मिलना होगा।" तब मुझे क्या पता था कि यह बापू से मेरी अंतिम

भेंट है और उनके प्यारे चेहरे को अन्तिम बार देख रही हूं।

दूसरे दिन, ३० जनवरी को, महात्मा गांधी की हत्या कर दी गई। जैसे ही वह प्रार्थना-सभा में पहुंच रहे थे कि आधे रास्ते में एक हिन्दू युवक ने उन पर तीन बार गोलियां दागीं।

गांधीजी के निधन की खबर से सारा देश सन्न रह गया। उनकी जीवन-ज्योति अवश्य बुझ गई थी; लेकिन जिस गोली ने उनके प्राण लिये, वह लाखों हृदयों को भेद गई और उन हृदयों में व्याप्त साम्प्रदायिक घृणा का भी उसने खात्मा कर दिया।

गांधीजी की अस्थियों को गंगा में विसर्जित करने के बाद वहाँ उपस्थित विशाल जन-समुदाय को सम्बोधित करते हुए जवाहर ने जो लम्बा भाषण दिया था उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं :

"उनके जीवन में और मरण में भी एक तेज है—एक प्रकाश, जो आने वाले युगों तक हमारे देश को आलोकित करता रहेगा। फिर हम उनके लिए शोक क्यों करें! शोक तो हमें अपने-आप पर, अपनी कमजोरियों पर, अपनी हृदय-गत दुर्भावनाओं पर, अपने मतभेदों पर और आपसी झगड़ों पर करना चाहिए। याद रहे कि इन सब बुराइयों को मिटाने के ही लिए गांधीजी ने अपनी जान दी। याद रहे कि पिछले कुछ महीनों से उन्होंने अपनी पूरी ताकत इसी काम में लगा रखी थी।...

"हमारे देश ने एक महान् आत्मा को जन्म दिया जो केवल भारत के ही लिए नहीं, सारी दुनिया के लिए ज्योति का पुंज था।...

"अपने सारे जीवन-काल में उन्होंने भारत को उसके गरीबों, दलितों और शोषितों के ही रूप में देखा, समझा और बराबर उन्हीं के बारे में सोचते और उन्हीं की चिन्ता करते रहे। उनको ऊंचा उठाना और आज़ाद करना ही उनके जीवन का मकसद रहा। उन्होंने उन्हीं जसा जीवन अपनाया और ऐसा लिबास धारण किया कि किसी को नीचा देखना और शर्मिन्दा न होना पड़े। गरीब लोगों की आज़ादी और तरक्की को ही उन्होंने अपनी जीत समझा।"[1]

१५

भारत में नवयुग

•

जवाहर पहली बार, सितम्बर १९४८ में, कामनवेल्थ के प्रधानमंत्रियों की बैठक में भाग लेने के लिए गए तो इंग्लैंड के प्रधानमंत्री एटली से उनकी निजी वार्ता अवश्य हुई, परन्तु राजप्रमुखों को उस आधिकारिक बैठक में भारत-सम्बन्धी कोई चर्चा नहीं हुई, क्योंकि विषय-सूची में भारत को नहीं रखा गया था। अप्रैल १९४९ में, लन्दन में प्रधानमंत्रियों की जो दूसरी बैठक हुई उसमें जवाहर ने यह प्रस्ताव रखा कि "ब्रितानी ताज की वफादारी से मुक्त सार्वभौम स्वतंत्र गणतंत्र के रूप में ही भारत कामनवेल्थ के अन्दर रह सकता है।" उनके इस प्रस्ताव से ब्रिटिश विदेश विभाग के कानूनदां लोग भौचक रह गए, और पूछने लगे, "ताज के प्रति वफादार संगठन में एक गणतंत्र का होना कैसे सम्भव है?"

प्रधानमंत्री एटली और बादशाह छठवें जार्ज के जोर देने पर ब्रिटिश शासकों ने "आखिर एक रास्ता निकाला। लन्दन की घोषणा में कहा गया कि कामनवेल्थ के दूसरे सदस्य जहां ताज के प्रति अपनी वफादारी से जुड़े हैं, भारत की पूरी

सदस्यता का दर्जा सिर्फ...'बादशाह को स्वतंत्र सदस्य राष्ट्रों के स्वच्छिक संगठन का प्रतीक मानकर कामनवेल्थ का प्रमुख स्वीकार कर लेने से' ही प्राप्त है।" इस प्रकार अंग्रेज़ों ने वास्तव में कामनवेल्थ के सदस्यता-सम्बन्धी सिद्धान्त को ही बदल दिया, जिससे भारत को उसका सदस्य बनाया जा सके।

अब भारत के गणतंत्र बनने में कुछ ही महीने बाकी रह गए थे। इस बीच संविधान सभा, जिसमें कांग्रेस पार्टी का बहुमत था, गरमागरम बहसों में लगी हुई थी। भारत का संविधान बनाने के दौरान राष्ट्रभाषा के प्रश्न, सरकार के संसदीय स्वरूप, (अस्पृश्यता-विरोधी प्रावधान के साथ) मौलिक अधिकार आदि महत्त्वपूर्ण मामलों के पक्ष-विपक्ष को लेकर संविधान सभा में उग्र विवाद होता रहा। लेकिन हर सवाल पर जवाहर की राय की कद्र की जाती और कांग्रेस का बहुमत उनके विचारों का समर्थन करता।

कांग्रेस के अन्दरूनी संघर्ष का आधार संगठनात्मक होने के साथ-ही-साथ सैद्धान्तिक अथवा वैचारिक भी था। एक तो यही कि वह भारत में ब्रिटिश राज के खिलाफ लड़ाई के लिए बनाया हुआ ढीला-ढाला संगठन था। स्वतंत्र होने का राष्ट्रीय संकल्प ही उसे एकताबद्ध किये हुए था और वही उसकी मूल-शक्ति भी थी। कम्युनिस्ट, समाजवादी और अनुदार सभी समान रूप से इसी एक ध्येय के लिए काम करते रहे थे। यहां तक कि आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर जवाहर के फेबियन (आदर्शवादी) समाजवादी विचार भी, सिर्फ राजनैतिक स्वप्नों (महत्त्वाकांक्षाओं) की सीमाओं तक, कांग्रेस को स्वीकार्य थे। लेकिन स्वतंत्रता प्राप्त होते ही कांग्रेस के अन्दर जो

विभिन्न विचारधारा वाले गुट या समूह थे उनका पारस्परिक संघर्ष उभरकर ऊपर आ गया। १९४७ में गांधीजी ने तो यह भी सलाह दी थी कि अब कांग्रेस को भंग करके नये राजनैतिक दल बना लेने चाहिए; लेकिन जवाहर और सरदार वल्लभभाई पटेल को गांधीजी का यह विचार स्वीकार न हुआ।

संविधान सभा की बैठकें १९४७ से १९४८ तक होती रहीं और २६ नवम्बर १९४९ को लोकतंत्र की स्थापना वाला भारत का संविधान अंगीकार किया गया। इस संविधान में बालिग मताधिकार, दो सदनों वाली संसद्, प्रधानमंत्री, मौलिक अधिकार आदि का प्रावधान किया गया था। हिन्दी को राजभाषा का दर्जा देने के साथ ही अंग्रेजी को केन्द्र में सहभाषा (वैकल्पिक) का स्थान दिया गया।

२६ जनवरी १९५० को भारत एक सार्वभौम संप्रभु गणतंत्र—भारतीय गणतंत्र—और ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल का सदस्य बना।

अक्तूबर १९४९ में जवाहर और इन्दिरा अपनी पहली अमेरिकी यात्रा पर गये। जवाहर को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने राजकीय अतिथि के रूप में आमंत्रित किया था और वे लन्दन से राष्ट्रपति के विमान द्वारा यात्रा करने वाले थे। ठीक उन्हीं दिनों राजा और मैं भी अपनी दूसरी भाषण-यात्रा के सिलसिले में अमेरिका जा रहे थे। जवाहर और इन्दिरा के प्रस्थान के दस दिन पहले मैं अपने दोनों बेटों के साथ भारत से अमेरिका के लिए रवाना हुई। राजा काफी दिन बाद आने वाले थे। मिस्र में कुछ दिन रुकने के बाद, एयर-इंडिया के जिस

विमान से जवाहर और इन्दिरा यात्रा कर रहे थे, उसीमें उन लोगों ने जवाहर से पूछा कि क्या मैं उनके साथ राष्ट्रपति-के विमान में यात्रा कर सकती हूं ? तो उन्होंने उत्तर दिया कि ऐसा करना राजनयिक शिष्टाचार के उपयुक्त न होगा; इसलिए हम लोग नियमित हवाई सेवा से गये ।

राजकीय कार्यक्रमों के बीच के समय में, और जब भी वे लोग नाश्ते के समय न्यूयार्क में रहते, मैं और मेरे दोनों बच्चे जवाहर और इन्दिरा के पास चले जाते थे। जवाहर जिन राजकीय समारोहों में आमंत्रित किये जाते, उन सभी में इन्दिरा उनके साथ नहीं जाती थी, इसलिए वह और मैं बाज़ार में खरीदारी करने, मित्रों के यहां दावत खाने और अजायबघर तथा कलादीर्घाएं देखने चली जाया करती थीं। मेरे एक मित्र ने हमें नाइट क्लब का निमंत्रण भी दिया था। इन्दिरा सामाजिक नृत्यों में भाग नहीं लेती, और यद्यपि मुझे नाचना प्रिय है, हमने वहां केवल भोजन किया, नृत्य देखा किये और लौट आये । इन्दिरा को नाटक पसन्द हैं, इसलिए उसने कई नाटक भी देखे । कुल मिलाकर यात्रा उसके लिए आनन्ददायी रही और उसने अमेरिका में बहुत-से दोस्त बनाये। अपनी अद्भुत निरीक्षण-क्षमता के कारण वह विदेश में देखे हुए स्थानों और वहां जिन लोगों से मुलाकात होती है उन्हें बहुत अच्छी तरह याद रखती है। अमेरिकी जनता उसे 'प्यार करने के काबिल' लगी, लेकिन उन लोगों का तड़क-भड़क वाला और बहुत खर्चीला आतिथ्य उसे कुछ भारी ही पड़ा । अपनी उस पहली यात्रा के बाद वह कई बार अमेरिका हो आई है ।

१७ यार्क रोड वाला प्रधानमंत्री का आवास सरकारी काम-काज और राजकीय समारोहों के लिए छोटा पड़ता था। मेहमानों का तांता लगा ही रहता—कुछ एक-दो दिन ठहरते और कई हफ्तों टिके रहते; परिवार के लोग भी अक्सर आ जाया करते थे; और यों भी अनेक कामों से अनेक लोगों की भीड़ लगी रहती थी—इन सब कारणों से बड़ी जगह रहना आवश्यक हो गया। इसके अलावा सुरक्षा का सवाल भी था—वह मकान ऐन सड़क पर होने के कारण सुरक्षा-प्रबन्ध कठिन हो जाते थे। वैसे जवाहर को अपनी सुरक्षा की कोई चिन्ता नहीं थी, लेकिन राजकीय कामों के लिए स्थान के साथ-साथ स्वयं उन्हें भी काम करने के लिए एकान्त चाहिए था। लार्ड माउण्टबेटन ने उन्हें उस बड़े मकान में चले जाने की सलाह दी जिसमें ब्रिटिश कमाण्डर-इन-चीफ रहा करता था। मकान क्या, बड़े-बड़े कमरों और सुन्दर बागीचे वाली विशाल कोठी ही थी। पहले तो जवाहर राज़ी न हुए; लोगों के सम्पर्क से दूर, कटे हुए और अकेले रहना उन्हें पसन्द न था, मगर अन्त में राज़ी हो गए। उनके वहां रहने जाने के साथ ही वह जगह प्रधानमन्त्री के निवास के नाम से प्रख्यात हो गई (और अब तीनमूर्ति-भवन कहलाती है)।

१९५० में इन्दिरा जब अपने पिता का नया घर जमाने के लिए वहां गई तो न जवाहर को और न स्वयं इन्दिरा को ही यह कल्पना थी कि अब यही उसका स्थायी घर होगा। आरम्भ में तो वह कुछ दिनों के लिए बच्चों को फ़ीरोज़ के पास लखनऊ ले जाया करती थी। लेकिन जैसे-जैसे जवाहर पर प्रधानमंत्रित्व का कार्यभार बढ़ता गया और देश की

स्थिति तनावपूर्ण होती गई, उसका नई दिल्ली में रहना भी आवश्यक और अपरिहार्य होता गया—महत्त्वपूर्ण विदेशी मेहमानों के स्वागत-सत्कार का दायित्व तो उसे निभाना पड़ता ही था, पिता की गृहस्थी का प्रबन्ध और उनकी सुख-सुविधा का खयाल रखना भी उसके ज़िम्मे था। उनकी बेटी होने के नाते यह उसका कर्त्तव्य ही था। मेरी बहिन तो अक्सर राजनयिक दायित्वों के सिलसिले में विदेशों में रहती और मैं अपने पति और बच्चों के पास बम्बई। फिर भी मैं अक्सर दिल्ली चली जाया करती थी। फ़ीरोज़ ने जब देखा कि संकट के इन दिनों इन्दिरा का अपने पिता के साथ रहना बहुत ज़रूरी है तो उसने तय किया कि वह बार-बार बच्चों के साथ २७० मील की यात्रा कर लखनऊ आये, इसके बजाय वही क्यों न दिल्ली उन लोगों से मिलने के लिए चला जाया करे।

विभाजन के बाद जवाहर को जान से मारने की धमकी-भरे पत्र मिलने लगे थे। उनकी सुरक्षा का प्रबन्ध बहुत ज़रूरी और महत्त्वपूर्ण था। राजनैतिक अवसरवादियों, बिना किसी निश्चित प्रयोजन के मिलने आने वालों और ऐसे ही अड़ंगे-बाज़ों और फितरतियों को उनसे दूर रखने में इन्दिरा को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। अपने पिता के प्राणों की रक्षक यह बेटी बड़ी चतुराई और होशियारी से मिलने के लिए आने वाले लोगों से पेश आती और अवांछनीय तत्त्वों को उनके समक्ष न जाने देती थी। इसके साथ ही वह समाज-कल्याण का कार्य करती और कांग्रेस की कई उपसमितियों की सदस्य भी थी। लेकिन इन सब कार्यों

को उसने कभी बेटों के प्रति अपने कर्त्तव्य में बाधक नहीं होने दिया।

इन्दिरा एक वत्सल मां थी और अपने दोनों बेटों के लालन-पालन में जितना भी सम्भव होता, ज्यादा-से-ज्यादा समय देती थी। वह अपने एकाकी बचपन की बात भूली नहीं थी, इसलिए राजीव और संजय को कभी अकेलापन अनुभव न करने देती। वह उन्हें अपने सामने खाना खिलाती, उनके साथ खेलती और बच्चों के लायक कोई अच्छी फिल्म होती तो दिखाने ले जाती। बच्चे भी अपनी मां के प्रेम में निश्चिन्त थे। लेकिन उस उम्र में उन्हें बराबर किसी की देख-रेख की जरूरत थी, इसलिए इन्दिरा ने अन्ना (एक डेन महिला जो भारत में बस गई थी) को सहायता के लिए बुला लिया। अन्ना सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु को सचिव और उसके बाद नान की पुत्रियों की गवर्नेस रह चुकी थी। वह अनुशासन के मामले में कठोर, ठण्डे जल के फुहारे के नीचे नहाने, सूर्यस्नान और व्यायाम की कट्टर पक्षपाती और नैष्ठिक शाकाहारी थी—कई बार तो कच्ची सब्जियां और दही खाकर ही रह जाती थी। जब राजीव और संजय देहरादून के वेल्हाम स्कूल में भर्ती हो गए तो उसने घर का प्रबन्ध संभालकर इन्दिरा को उस जानलेवा काम से मुक्त कर दिया।

फ़ीरोज भी अपने पुत्रों को जी-जान से चाहने वाला—समर्पित पिता था। वह उनके लिए खिलौने बनाता और मशीनों में उनकी रुचि जाग्रत करता रहता था। हर चीज़ को खोलने और फिर से जोड़ने के कार्य में वह उन्हें बराबर

प्रोत्साहित किया करता था। वह अपनें दोनों बेटों को इंजीनियर बनाना चाहता था। (मशीनों की बनावट और कार्य-विधि में अपने दोनों बेटों की रुचि पैदा करने में वह इस हद तक सफल हुआ कि बड़े होने पर उन्होंने इंजीनियरिंग को ही अपना पेशा बनाया।)

भारत की समस्याओं को हल करने में सतत प्रयत्नशील कई कांग्रेसी सहयोगियों की मृत्यु हो जाने से जवाहर को ऐसा लगता था मानो सारी लड़ाई वह अकेले ही सह रहे हैं। मरने वालों में सरदार वल्लभ भाई पटेल, गोविन्द वल्लभ पन्त और रफी अहमद किदवई थे। अब कांग्रेस के उनके कई साथियों में भारत और विश्व के भविष्य के प्रति दूरदर्शिता का नितान्त अभाव था। इसलिए जवाहर अकसर इन्दिरा से सलाह-मशविरा किया करते। देश और विदेश में जो समझौता-वार्ताएं होतीं, उनमें कूटनीतिक चर्चाओं के दौरान पर्यवेक्षक के रूप में निरन्तर उपस्थित रहने के परिणाम-स्वरूप ऐतिहासिक घटनाओं की इन्दिरा की समझ बहुत विकसित, प्रौढ़ और स्पष्ट हो गई थी, इसलिए जवाहर उसके निर्णय पर भरोसा करते थे।

इन्दिरा का इतिहास-सम्बन्धी विशद ज्ञान उस समय से आरम्भ होता है जब उसको तेरहवीं वर्षगांठ पर उसके पिता ने (नैनी जेल से) उस सिलसिले का, जो बाद में 'विश्व-इतिहास की झलक' नाम से पुस्तककार प्रकाशित हुआ, पहला पत्र लिखा था। अब वह सचमुच जीवित इतिहास में भाग ले रही थी। वह अपने पिता के साथ अनेक ऐतिहासिक मिशनों पर विदेशों में गई। १६४८ और १६४६ में राष्ट्रमण्डल के प्रधान

मन्त्रियों की बैठकों में लन्दन; और वहां से पेरिस, जहां संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों की जनता की आकांक्षाओं को जोड़ते हुए भारत की विदेश-नीति पर उन्होंने भाषण दिया; १९५३ में रानी ऐलिज़ाबेथ के राज्यारोहण-समारोह में लन्दन; १९५४ में जवाहर की राजकीय यात्रा में चीन; और १९५५ में बांडुंग के एफ्रो-एशियाई सम्मेलन में इंडोनेशिया, जहां अफ्रेशियाई गुट के प्रवक्ता के रूप में जवाहर ने चीन को अफ्रेशियाई राष्ट्रों की मंडली में इस आशा से लाने का प्रयत्न किया कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सुधार चीन की अतिवादी नीति को प्रभावित कर सके।

१९५३ में इंग्लैंड से लौटने के बाद इन्दिरा निजी रूप से सोवियत रूस की यात्रा पर गई। इस यात्रा के दौरान उसे रूस के जन-जीवन और वहां की सरकार के काम और नीति को देखने-समझने का अच्छा अवसर मिला, और उसके अगले साल जब चीन जाने की बारी आई, तो वह दोनों ही साम्य-वादी देशों की राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों की तुलना कर सकी। निजी चर्चाओं में उसने भारत और दक्षिण-पूर्वी आग्नेय-एशिया के प्रति चीनी इरादों के बारे में आशंका व्यक्त की थी। १९५४ में जब जवाहर ने चाऊ एन लाई को राजकीय अतिथि के रूप में भारत आमंत्रित किया तो इन्दिरा अपने पिता के विचारों से सहमत न हो सकी। जवाहर और चाऊ की भेंट का परिणाम एक संयुक्त घोषणा के रूप में सामने आया, जो पंचशील कहलाता है; इसमें दोनों देशों की पारस्परिक मैत्री को बनाये रखने वाले पांच सिद्धान्त प्रति-

पादित किये गए थे—एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और संप्रभुता का सम्मान; अनाक्रमण; अन्दरूनी मामलों में अहस्तक्षेप; समानता और पारस्परिक हित, और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

जवाहर को विश्वास था कि चीन अपने वादों को निभायेगा, क्योंकि जैसा कि उन्होंने कहा था, दोनों ही महान् सभ्यताएं "एक हजार वर्ष से पड़ोसियों के रूप में शान्तिपूर्वक रहती आई हैं; दोनों में से किसी ने हमलावर का वाना धारण नहीं किया है और दोनों के बीच सदियों से गहरे सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध चले आते हैं।"

जवाहरलाल नेहरू ने भारत को स्वतन्त्रता के लिए जो ओजस्वी कार्य किये और अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द के लिए उनके मन में जो चिन्ता-उत्कण्ठा थी, उससे आकर्षित होकर कई विदेशी विशिष्ट जन दिल्ली आये—उनमें ख्रुश्चेव, बुलगानिन, नासिर, चाऊ एन लाई और श्रीमती इल्यानोर रूज़वेल्ट थे। इससे इन्दिरा को विश्व की प्रमुख हस्तियों से परिचय प्राप्त करने और महत्त्वपूर्ण घटनाओं की सीधी जानकारी पाने का अवसर मिला, क्योंकि जिन बैठकों में सारी दुनिया को प्रभावित करने वाले अटपटे मामलों पर चर्चाएं होतीं उनमें वह एक पर्यवेक्षक के रूप में उपस्थित रहती थी।

देश के अन्दर और बाहर जवाहर को बड़ी जबर्दस्त समस्याओं का सामना करना पड़ा। १९४७ में कश्मीर पर पाकिस्तानी हमले के बाद भारत और पाकिस्तान के पारस्परिक सम्बन्ध उत्तरोत्तर बिगड़ते गए। १९४७ में पाकिस्तान, दो बड़े भूखण्डों को लेकर, पूर्व पाकिस्तान और पश्चिमी

पाकिस्तान के रूप में बनाया गया था। इन दोनों हिस्सों को भारत का नौ सौ मील का मध्योत्तर भाग एक-दूसरे से अलग करता था। पाकिस्तान के लिए अपने पृथक् हिस्सों के अलग-अलग लोगों को एकताबद्ध करना बहुत जरूरी था। भारत ने तो अपने लोगों की उन्नति और हालत सुधारने की नीति अपनाई थी, परन्तु पाकिस्तान में बड़े ज़मींदार वहां के लोगों को चूसते और दोनों हाथों से धन बटोरते रहे। पाकिस्तानी सरकार को इस असमानता की ओर से किसानों का ध्यान बंटाने के लिए विवश हो जाना पड़ा; इस काम के लिए मज़हब के रूप में एक अच्छा हथियार भी मिल गया। कश्मीर का झगड़ा १९४८ में संयुक्त राष्ट्रसंघ के इजलास में गया और १९४९ में युद्ध-विराम हुआ; परन्तु समस्या हल न हुई, वह झगड़ा आज भी बरकरार है।

देश के अन्दर जवाहर को कई गुटों के मतभेदों और विरोधों का सामना करना पड़ा; लेकिन वे एक के बाद एक विकासोन्मुख कार्यक्रम बड़े ही कारगर तरीके से पेश करते गए। समाजवादी ढंग के कल्याणकारी राज्य में उनका विश्वास था, पर उसे ज़बर्दस्ती लादने के बजाय वे जनता के सहयोग और सहमति से उसे हासिल करना चाहते थे। उन्होंने योजना पर सबसे अधिक ज़ोर दिया, क्योंकि उनकी राय में सामान्य जन के जीवनस्तर को ऊंचा उठाने और उसकी सुप्त प्रतिभाओं को उपयोगी बनाने का सिर्फ यही एक रास्ता था। देश के आर्थिक विकास के लिए उन्होंने राजकीय उद्योगों का (सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योग खोले जाने का) अनुमोदन किया। उनके प्रभाव और प्रयत्नों से पंचवर्षीय योजनाएं शुरू हुईं और

बड़े पैमाने पर उद्योग एवं कृषि की परियोजनाओं को हाथ में लिया गया। नई परियोजनाओं को आरम्भ करने के लिए जिन स्थानों का चुनाव किया जाता वहां वे स्वयं जाते और उनके शिलान्यास-समारोहों की अध्यक्षता के लिए समय भी देते। उनकी नीतियों के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय साधनों का क्रमशः अच्छा उपयोग होने लगा और देश के आर्थिक विकास का रास्ता खुलता गया।

इन्दिरा भी परियोजनाओं को देखने के लिए जाती और इस तथ्य को हृदयंगम करती कि उनसे देश का किस तरह कायाकल्प हो रहा है। पंचवर्षीय योजनाएं और कृषि एवं उद्योग का निरन्तर विस्तार भारत के अच्छे भविष्य में उसके पिता की अडिग आस्था के प्रतीक थे; इनसे इन्दिरा को भी उन आदर्शों के लिए काम करने की प्रेरणा मिलती जिनके लिए उसके पिता सतत कार्यरत थे।

नये संविधान के अन्तर्गत पहले आम चुनाव १९५२ में हुए। जवाहर के प्रति भारत की जनता के अनन्य प्रेम को ही कांग्रेस ने अपने चुनाव-अभियान का मुख्य आधार बनाया। वे उनकी हालत सुधार रहे थे इसलिए जनता उनको अपना आदर्श मानती थी। स्थानीय उम्मीदवार कोई भी क्यों न रहा हो, हर जगह कांग्रेस के चुनाव पोस्टर का मुख्य नारा था, "कांग्रेस को वोट: जवाहर को वोट!" हवाई जहाज़, मोटर-कार, रेल और यहां तक कि बैलगाड़ी से भी जवाहर ने सारे भारत का चुनाव-दौरा किया। अक्सर इन्दिरा भी इन चुनाव-दौरों में उनके साथ जाती थी। कभी कोई स्थानीय उम्मीदवार उसे भी अपने निर्वाचन-क्षेत्र की सभा में समर्थन-

भाषण के लिए ले जाता था। इन्दिरा को यह देखकर खुशी होती कि वह श्रोताओं को प्रभावित और प्रेरित कर सकती है।

१९५२ के आम चुनाव के पहले उत्तरप्रदेश की प्रदेश कांग्रेस समिति ने इन्दिरा के सामने प्रस्ताव रखा था कि वह राज्य विधान-सभा का चुनाव लड़े; लेकिन इन्दिरा ने मना कर दिया, क्योंकि एक तो दोनों बच्चे छोटे थे और दूसरे, समाज-सेवा का जो काम उसने हाथ में ले रखा था, उसे छोड़ना नहीं चाहती थी। उसने भारतीय संगीत और नृत्य और भारतीय फिल्मों—खासतौर पर बाल-फिल्मों के विकास के लिए विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना की थी। वह भारतीय बाल-कल्याण परिषद की अध्यक्ष और भारत सरकार के केन्द्रीय समाजकल्याण संघ की सदस्य थी। इन कामों में लगे रहने के कारण उसने फिलहाल राजनीति में भाग लेने से इन्कार कर दिया। फिर जवाहर को भी उसकी आवश्यकता थी—उनके अतिथियों के स्वागत-सत्कार का भार तो उसपर था ही, जटिल समस्याएं उपस्थित होने पर वे परामर्श भी उसीसे करते थे।

और यों इन्दिरा दिल्ली में अपने पिता के यहीं रहने लगी। इसके लिए उसे फ़ीरोज़ से दूर रहना और गार्हस्थ सुख का त्याग भी करना पड़ा। कहा जाता है कि इससे फ़ीरोज़ दुःखी रहने लगा और यह भी कि उसका यह खयाल हो गया कि इन्दिरा एक सामान्य व्यक्ति की अज्ञातनामा पत्नी बनकर रहने की अपेक्षा प्रधानमंत्री-निवास की तड़क-भड़क वाली ज़िन्दगी में प्रमुख बनकर रहना ज्यादा पसन्द करती है। लेकिन मैं जानती हूं कि यह सच नहीं है। इन्दिरा ने एक

वार मुझे पत्र में लिखा था : "अपने परिवार वालों को बिलकुल ही महत्त्व न देने की उनकी (जवाहर की) आदत तो आपको मालूम ही है।...जब कभी काम में होते हैं तो अपनों के प्रति वैयक्तिक भावनाओं और दायित्वों का उन्हें ज़रा भी खयाल नहीं रहता।" मुझे विश्वास है कि फ़ीरोज़ भी इस बात को जानता और समझता था।

१६

फ़ीरोज़ की मृत्यु

१९५२ के आम चुनाव में फ़ीरोज़ ने बरेली से कांग्रेस टिकट पर लोक-सभा का चुनाव लड़ा और प्रबल बहुमत से विजयी हुआ। 'नेशनल हेराल्ड' के प्रबन्ध-सम्पादक पद से इस्तीफा देकर वह नई दिल्ली चला आया और प्रधानमंत्री-भवन के एक हिस्से में अपने बीवी-बच्चों के साथ रहने लगा। लोक-सभा का सदस्य होने के कारण उसे अलग से भी एक मकान मिला था। यह मकान उसने अपने पास ही रखा, क्योंकि काम करने, लोगों से मिलने और आगन्तुकों का स्वागत-सत्कार करने के लिए अपनी अलग जगह होना ज़रूरी था। इस मकान की साज-सज्जा के लिए वह लखनऊ से सारा फर्नीचर ले आया, जिसे उसने खुद बनवाया था और तमाम कमरों को इतने आकर्षक ढंग से सजाया कि देखते ही बनता था। मकान के साथ एक छोटा बागीचा भी था, इसलिए बागबानी का अपना शौक उसने दिल्ली में भी जारी रखा।

खाद्य और कृषि-मंत्री रफी अहमद किदवई से, जिनके साथ वह 'नेशनल हेराल्ड' में काम कर चुका था, फ़ीरोज़ के

बड़े घनिष्ठ सम्बन्ध थे। रफी साहब एक ज़माने में मेरे पिता-जी के सचिव भी रहे थे और बाद में उत्तर प्रदेश में कांग्रेस-आन्दोलन के बड़े योग्य संगठनकर्ता के रूप में सामने आये। जवाहर को उनकी संगठन-क्षमता और प्रशासकीय योग्यता पर पूरा भरोसा था और वे उन्हें बहुत मानते थे। केन्द्रीय मंत्री के नाते रफी साहब ने लोगों से काम लेने की अपनी योग्यता का सिक्का जमा दिया और खाद्य और कृषि-विभाग अपने पास रहते उन्होंने देश के अन्न-संकट को सफलता से हल कर दिखाया। सामाजिक व्यवस्था के समाजवादी स्वरूप में विश्वास होते हुए भी वे ज़रा भी कट्टरपन्थी और रूढ़ि-वादी नहीं थे और इसीलिए अन्न-संकट को हल करने के अपने काम में उन्होंने निजी व्यापारियों और जन-सेवियों, दोनों का ही पूरा-पूरा सहयोग लिया।

रफी साहब से मैत्री फ़ीरोज़ के बहुत काम आई। उसनें उनसे बहुत-कुछ सीखा—उनकी तरह उसके दरवाज़े भी हमेशा सबके लिए खुले रहते और गरीबों की सेवा-सहायता के लिए वह भी चौबीसों घण्टे तैयार रहता था। तांगे-इक्केवाले और टैक्सी-चालक, पोस्टमैन और रेल के कुली-हमाल और फेरी-वाले अपनी समस्याएं लेकर उसके पास आते ही रहते थे और वह बड़ी तत्परता से उनके मामले हाथ में लेता और मदद करता था। ऐसे आदमी के घर किसी के आने-जाने पर कोई रोक-टोक नहीं हो सकती। प्रधानमंत्री-निवास में सुरक्षा-प्रति-बन्धों के कारण फ़ीरोज़ अपना घर सबके लिए खुला नहीं रख सकता था।

फ़ीरोज़ बड़ा ही स्वाभिमानी व्यक्ति था। प्रधान मंत्री के

दामाद के रूप में परिचय दिया जाना उसे ज़रा भी पसन्द नहीं था और अपने श्वसुर के साथ फोटो खींचे जाने से वह हमेशा वचता था। वह बरावर यही चाहता रहा कि उसे उसकी अपनी योग्यता के आधार पर ही जाना-पहचाना जाय, नेहरू-परिवार के पुछल्ले के रूप में नहीं। अगर किसी समारोह में वह जवाहर के दामाद के नाते निमंत्रित किया जाता तो जाने से साफ इन्कार कर देता और सिर्फ उन्हीं समारोहों में जाता, जहां उसे लोक-सभा के सदस्य की हैसियत से बुलाया जाता था।

राजा और मैं उसे वहुत चाहते थे, क्योंकि वह बिलकुल हमारे-जैसा ही था। मैं जव भी नई दिल्ली में होती वह सवेरे, नाश्ते के वाद, मेरे कमरे में गपशप के लिए चला आता। राजा उसे 'राष्ट्र का जमाई' कहकर अक्सर छेड़ा करते और फ़ीरोज़ भी वड़े तपाक से उन्हें 'राष्ट्र का बहनोई' कहता था।

फ़ीरोज़ के अलग मकान को लेकर वड़े किस्से गढ़े गए और उसकी और इन्दिरा की अनबन की वातें तक जड़ी गईं, यहां तक कि संसद् में भी कानाफूसी होने लगी कि हिन्दू विवाह कानून में तलाक का प्रावधान सिर्फ इसलिए किया गया है कि इन्दिरा तलाक ले सके। लोग यह भूल गए थे कि इन्दिरा और फ़ीरोज़ के लिए तलाक की कार्रवाइयां कतई ज़रूरी नहीं थीं और फिर हकीकत तो यह थी कि वे एक-दूसरे को वास्तव में वहुत ज्यादा प्यार करते थे। लेकिन आज भी ऐसे कई लेखक हैं जो दोनों के दु:खद और असफल दाम्पत्य का वेसुरा राग अलापे जा रहे हैं।

१९६६ में एक भेंटकर्ता को इन्दिरा ने वताया था :

"मैं किस्से सुनती हूं कि मेरी शादी टूट गई थी और मैंने अपने पति को छोड़ दिया था, या हम लोग अलग हो गए थे। मगर यह कुछ भी सच नहीं है। हमारा वैवाहिक जीवन आदर्श रूप से सुखी नहीं कहा जा सकता। हम कभी बहुत प्रसन्न रहे और कभी बहुत जोरों से झगड़ा भी किया। कारण कुछ तो यह कि हम दोनों ही काफी जिद्दी थे और कुछ हद तक परिस्थितियां भी कारण रहीं। अगर वह मना कर देते तो मैं सार्वजनिक कार्य कभी न करती। लेकिन जो भी करती हूं, इतनी तल्लीनता से करती हूं कि तब पूरी तरह उन्हीं पर केन्द्रित हो जाने का खतरा था और यह अन्देशा उन्हें भी हुआ। इसलिए जब सार्वजनिक जीवन में उतरी और सफल हुई तो उन्हें अच्छा भी लगा और नहीं भी लगा। दूसरे लोगों—मित्रों और रिश्तेदारों—का रवैया तो इस मामले में और भी खराब रहा। वे पूछते, 'क्यों जी, फलां का पति होना कैसा लगता है?' वे बुरा मान जाते और मुझे मनाने में हफ्तों लग जाते। शादी में सबसे बड़ा पाप है—मर्द के अहं को चोट पहुंचाना। लेकिन अखीर-अखीर में हम इन सब बातों से बहुत परे होते और एक-दूसरे के काफी करीब आते जा रहे थे।"

दोनों ही भारत की उन्नति के प्रति समर्पित और उसी एक आदर्श से अनुप्राणित थे और दोनों ने ही अपने जीवन का श्रेष्ठतम अपने देश की सेवा में लगाया था। संसदीय पद्धति की पूरी जानकारी न होने के कारण फ़ीरोज़ ने आरम्भ में तो लोकसभा की कार्रवाइयों में मामूली-सा ही भाग लिया, लेकिन अपने परिश्रम और संकल्प के बल पर उसने जल्दी ही कार्रवाई सम्बन्धी पूरी जानकारी प्राप्त कर ली और कार्यनीतियों तथा

विधि-विधान का विशेषज्ञ बन गया। लोकसभा में अपने पहले भाषण की सामग्री जुटाने में उसने भगीरथ परिश्रम और बड़ी सतर्क छानबीन की थी। भाषण का विषय था—डालमिया-जैन उद्योग-समूह के एक प्रतिष्ठान, भारत बीमा कम्पनी द्वारा धन का दुरुपयोग। उसने कम्पनी के निन्दनीय हथकण्डों का ऐसा युक्तियुक्त भण्डाफोड़ किया कि सरकार को जांच-आयोग बैठाना पड़ा, रामकृष्ण डालमिया को सजा हुई और अन्त में जीवन-बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण हुआ। उसने सारे मामले को जिस खूबी से पेश किया, उससे उसकी निडरता, स्पष्टवादिता, सत्य और न्याय-निष्ठा की धाक जम गई। सभी मान गए कि राष्ट्र के हित में बड़े-से-बड़े व्यक्तित्व का भी पर्दाफाश क्यों न करना पड़े, फ़ीरोज़ कभी हिचकिचायेगा नहीं।

१९५७ के आम चुनाव में फ़ीरोज़ ने पुनः लोकसभा का चुनाव जीता और एक बार फिर यह सिद्ध कर दिखाया कि वह कितना निडर वक्ता और साहस का धनी संसद्-सदस्य है। इस बार उसने वित्त-मंत्रालय पर प्रहार किया और उस सारी कार्रवाई का रहस्योद्घाटन किया जो राष्ट्रीयकृत जीवन बीमा निगम द्वारा उद्योगपति हरिदास मूंदड़ा को भारी कर्ज़ देने के सिलसिले में की गई थी। तत्कालीन वित्तमंत्री टी० टी० कृष्णमाचारी भारत-सरकार के योग्यतम मंत्रियों में से थे और जब उनके मंत्रालय पर आरोप लगाये गए तो जवाहर बहुत दुःखी हुए; परन्तु वे न्यायिक जांच के लिए तैयार हो गए और बम्बई-हाईकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश छागला को इसके लिए नियुक्त किया गया (श्री छागला आगे चलकर अमेरिका में भारत के राजदूत और

तत्पश्चात् केन्द्र में क्रमश: विदेश-विभाग और शिक्षा-विभाग के मंत्री भी रहे)। फ़ीरोज़ ही मुख्य गवाह था और उसने जांच-अदालत के समक्ष पुष्ट प्रमाणों के ढेर लगा दिये। जांच की रिपोर्ट ने जवाहर को खासी उलझन में डाल दिया क्योंकि उनके एक वरिष्ठ सहयोगी और सरकार के उच्च अधिकारी-गण दोषी पाये गए थे। मगर सारी परेशानी के बावजूद उन्होंने सम्बन्धित अधिकारियों के आचरण की निन्दा की और कहा कि उन लोगों को कड़ी सजाएं दी जानी चाहिए। वित्तमंत्री को इस्तीफा देना पड़ा। स्वयं फ़ीरोज़ को इससे कोई खुशी नहीं हुई, क्योंकि कहा जाता है कि उसने यह टिप्पणी की थी, "अरे, कहां मारा, कहां लगा!" इस जांच ने बड़ी खलबली मचाई और सारी दुनिया के अखबारों में इस काण्ड के बारे में लिखा गया।

इस प्रकार फ़ीरोज़ ने लोकसभा के सदस्य के नाते नाम कमाया और नवोदित राष्ट्र के जीवन में अपना स्थान बना लिया। वह अच्छा वक्ता, कुशल प्रशासक और सचाई के पक्ष में निडरता से लड़नेवाला शूरमा था।

अत्यधिक अच्छे गुणों के कारण उसके कई मित्र हो गए थे, जिनसे उसकी छेड़छाड़ और हँसी-दिल्लगी चलती रहती थी। मगर वैसे आम तौर पर वह दूसरों की भलाई के ही काम करता था, जैसे किसी लड़की को उपयुक्त पति न मिल रहा हो तो उसके लिए सही आदमी खोज देना, आदि। वास्तव में उसे शादी-ब्याह तय कराने में मज़ा आता था। बच्चों की पार्टियों में वह खूब चहकता था।

प्रधानमन्त्री-निवास के रहन-सहन और तौर-तरीके से

समरस न हो पाने का मुख्य कारण यही था कि उसकी पृष्ठ-भूमि इन्दिरा से भिन्न प्रकार की थी। उसका जन्म और लालन-पालन सामान्य हैसियत के मध्यमवर्गीय पारसी परिवार में हुआ था। इंग्लैंड में उसकी शिक्षा का पूरा खर्च उसकी एक चाची (मौसी या बुआ) ने किया था, जो लखनऊ की मशहूर डाक्टरनी थीं और उसे वहुत चाहती थीं। शिष्टाचार का आडम्बर और निरी औपचारिकता उसे ज़रा भी न सुहाती थी। कौन कहां बैठे और कौन कहां खड़ा रहे, इस तरह के राजनयिक शिष्टाचार के अग्रताक्रम और ऐसी ही दूसरी महत्त्वहीन बातों से उसे वड़ी उलझन होती थी। इसीलिए उसने १९५८ में अकेले रहने का फैसला किया और उस मकान में चला आया जो लोकसभा के सदस्य की हैसियत से उसे मिला था। लेकिन भोजन वह रोज़ प्रधानमन्त्री-भवन में इन्दिरा और वच्चों के साथ ही करता था।

अलग रहना शुरू करने के कुछ ही दिनों वाद उसे दिल का दौरा पड़ा। इन्दिरा उस समय एक राजनैतिक मिशन पर नेपाल गई हुई थी। टेलीफोन से उसे खवर की गई और वह फौरन दिल्ली भागी आई। उसने खूब जी लगाकर अपने पति की सेवा की और जल्दी ही वह अच्छा हो गया। फिर फ़ीरोज़, इन्दिरा और बच्चे स्वास्थ्य-लाभ के लिए काश्मीर गये। वहां उन्हें खूब मजा आया और मन भी बहला। इन्दिरा के शब्दों में, "हमने वहां पूरी छुट्टी मनाई।"[१] वहां से लौटते ही फ़ीरोज़ पुनः अपने काम में जुट गया।

२ सितम्बर १९६० को फ़ीरोज़ ने छाती में दर्द होने की शिकायत की। डाक्टर ने आराम करने की सलाह दी, पर वह

माना नहीं और लोकसभा की बैठकों में जाता रहा। पांच दिन बाद उसने डाक्टर को फोन किया और खुद ही मोटर चलाकर अकेला नर्सिंग होम पहुंचा। वहां जाते ही उसे दिल का दूसरा दौरा पड़ा। इन्दिरा केरल पहुंची ही थी कि खबर पाकर उलटे-पांवों दिल्ली लौटी। रात में फ़ीरोज़ की हालत ज्यादा खराब हो गई। इन्दिरा सारी रात उसके सिरहाने बैठी रही। ८ सितम्बर के सवेरे, पौ फटने से भी पहले, इन्दिरा का हाथ थामे हुए फ़ीरोज़ ने इस दुनिया से नाता तोड़ लिया।

राजीव और संजय देहरादून के स्कूल से घर आये। राजा और मैं भी दिल्ली भागे गए, परन्तु पहुंचने में देर हो गई और अन्तिम संस्कारों में शरीक न हो सके। फ़ीरोज़ पारसी था (पारसी अपने मृतकों को या तो गाड़ते हैं या शान्ति स्तूप (टावर आफ सायलेन्स) में रख आते हैं), परन्तु अन्तिम इच्छा के अनुसार उसका दाह-संस्कार किया गया। उसके शव को श्मशान ले गए और वहां राजीव ने अपने पिता की चिता को आग दी। हजारों की तादाद में मज़दूर और गरीब लोग, जिनकी वह मदद करता रहा था, उसकी शवयात्रा में सम्मिलित हुए।

इन्दिरा का दिल टूट गया। मारे शोक के उसने अपने को कमरे में बन्द कर लिया। यह सोचकर कि वह इस समय अकेली रहना चाहती है, मैं अपने भाई के पास उनके कमरे में चली गई। वे शून्य में आंखें गड़ाये चुपचाप बैठे थे। उस वज्र-प्रहार से वह इस कदर स्तम्भित हो गए थे कि उन्हें पास-पड़ौस का भी कोई ध्यान नहीं रहा था। जब मैंने उनकी पीठ पर हाथ रखा तो रुंधे हुए गले से कह उठे, "सब कुछ कितना

जल्दी और अचानक हो गया ! अभी तो बिलकुल बच्चा ही था...और यह तो मुझे आज ही मालूम हुआ कि इतना लोकप्रिय भी था । बराबर इन्दु को पूछता रहा ।"

१७

स्थिति की जानकारी के लिए दौरे

•

इन्दिरा के जीवन में एक समय ऐसा भी आया जब सारे भारत के दौरे करते रहना ही उसका खास काम हो गया। १९५५ में वह कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति में ली गई और महिला-विभाग उसे सौंपा गया। महिलाओं के स्थानीय संगठन बनाने और उन्हें कांग्रेस की नीति और सिद्धान्त समझाने के लिए दौरे करना उसके लिए बहुत जरूरी हो गया।

१९५७ के आम चुनाव में उसने जवाहर के लिए उनके फूलपुर निर्वाचन-क्षेत्र में प्रचार-कार्य किया था। उन दिनों इस क्षेत्र के ११०० गांवों में से वह प्रत्येक गांव में गई। उस के भाषण सुनने के लिए बड़ी संख्या में लोग आते; और लोगों में आसानी से घुलने-मिलने की अपनी आदत के कारण वह उस क्षेत्र में बहुत ही लोकप्रिय और सबकी स्नेहभाजन हो गई। उसने गुजरात में भी चुनाव-प्रचार किया; वहां मार-पीट की घटनाएं और उग्र विरोधी प्रदर्शन हो रहे थे। उन दिनों महाराष्ट्र और गुजरात एक ही राज्य बम्बई के अन्तर्गत थे और गुजराती अपने अलग राज्य की मांग कर रहे थे।

कांग्रेस के अन्दर नीति-निर्धारण के अधिकार को लेकर मतभेद बहुत तीव्र हो गए थे। कांग्रेस दल के लिए नीति-निर्धारण कौन करे—प्रधान मंत्री या कांग्रेस-संगठन? स्वतंत्रता के पहले कांग्रेस के अध्यक्ष को नीति-निर्धारण-सम्बन्धी अधिकार थे और वही नेता होता था; लेकिन स्वतन्त्रता के बाद अध्यक्ष केवल नामधारी रह गया और प्रधान मन्त्री वास्तविक नेता बन गया। अधिकार-सम्बन्धी इस झगड़े के कारण कांग्रेस के दो अध्यक्षों ने अपने पद से त्यागपत्र भी दे दिये थे। १९५१ से १९५४ तक जवाहर देश के प्रधान मन्त्री पद के अतिरिक्त कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर भी रहे। १९५५ से १९५८ तक श्री ढेबर ने इस पद को सुशोभित किया। अब तक एक जन-संगठन के रूप में कांग्रेस का महत्त्व लगभग समाप्त हो चुका था और नीति-निर्धारण का अधिकार विधान-मंडलों में कांग्रेस पार्टी के हाथ में आ गया था।

१९५९ के आरम्भ में कांग्रेस के अन्दर जो वामपक्षी तत्त्व थे उन्होंने एक जिंजर ग्रुप (—प्रेरक गुट, जो कुछ निश्चित नीतियों पर अमल करने के लिए सरकार को बाध्य करता रहे) बनाया और वे जवाहर के समाजवादी कार्यक्रम को लागू करने पर ज़ोर देने लगे; लेकिन दक्षिणपन्थी उसमें बराबर अड़ंगे लगाते रहे। वह प्रेरक गुट (इन्दिरा और फ़ीरोज़ दोनों ही उसमें थे) ज्यादा दिन चल नहीं पाया।

१९५९ के फरवरी महीने में इन्दिरा कांग्रेस की अध्यक्ष चुनी गई। कुछ लोगों का कहना है कि उसमें जवाहर का हाथ था। लेकिन यह सही नहीं है। उनकी दृढ़ मान्यता थी कि कोई भी पद योग्यता के आधार पर ही अर्जित किया जाना

चाहिए, नाते-रिश्ते के कारण देना कदापि ठीक नहीं। इन्दिरा दल की अध्यक्ष बनने वाली चौथी महिला थी, इसलिए किसी को अजीब नहीं लगा। और उसने केरल के अपने दौरे में यह प्रमाणित कर दिखाया कि कांग्रेस अध्यक्ष-जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण पद के लिए वह सब तरह से योग्य है।

केरल जाने का उद्देश्य वहां की उलझनपूर्ण राजनैतिक परिस्थिति की जटिलताओं का पता लगाना था। इन्दिरा वास्तविकता की जानकारी स्वयं करना चाहती थी। केरल में १९५७ के चुनाव में कम्युनिस्ट जीते और उन्होंने वहां अपनी सरकार बनाई; इस पर सारे देश में चिन्ता प्रकट की गई थी। अपने पादरी वर्ग के पूरे प्रभाव में रोमन कैथोलिक ईसाई सम्प्रदाय वहां का शक्तिशाली अल्पमत था। कम्युनिस्टों ने जनवादी संविधान के अन्तर्गत विजयी होकर सत्ता प्राप्त की थी, लेकिन उसका जनहित में उपयोग करने के बजाय दलीय हितों में दुरुपयोग करने लगे—पुलिस और प्रशासकीय सेवाओं में उन्होंने अपने दल वालों को घुसेड़ दिया; राजकोष का उपयोग दलगत कामों में करने लगे; न्यायपालिका के कार्यों में व्यापक रूप से हस्तक्षेप आरम्भ हो गया; कानून और व्यवस्था की ओर दुर्लक्ष्य किया जाने लगा। स्कूली बच्चों को अपने मत की शिक्षा देने के लिए उन्होंने नये ढंग की पाठ्य पुस्तकें लिखवाईं और राज्य में सम्प्रदायों के जितने भी स्कूल थे उन्हें बन्द करवा दिया। इससे रोमन कैथोलिक ही नहीं, जितने भी धार्मिक गुट थे सभी विरोध में उठ खड़े हुए, लेकिन कम्युनिस्ट मंत्रिमण्डल ने तमाम विरोध और शान्तिपूर्ण प्रदर्शनों को कुचल दिया। फिर भी भारत सरकार मतदाताओं द्वारा निर्वाचित

मंत्रिमंडल को हटाने से कतराती रही।

इन्दिरा गांधी के वहां जाने और सारी स्थिति के अध्ययन विश्लेषण का बड़ा शुभ परिणाम हुआ और परिवर्तन का चक्र चल पड़ा। दिल्ली लौटकर उसने केन्द्रीय सरकार पर ज़ोर डाला कि कम्युनिस्ट मंत्रिमंडल को बर्खास्त कर केरल में राष्ट्रपति का शासन लागू कर देना चाहिए। हमारे देश के संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति को इस तरह के विशेषाधिकार प्राप्त हैं। इसके बाद केरल में नये चुनाव के आदेश दिये गए। इन्दिरा फिर केरल गई और उसने सारे राज्य का चुनाव-दौरा किया। इस बार प्रदेश कांग्रेस की भारी बहुमत से जीत हुई। इससे इन्दिरा की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई।

अब बम्बई राज्य की समस्याएं इन्दिरा के सामने मुंह-बाये आ खड़ी हुई। १९५६ में भारतीय गणतंत्र के सभी प्रदेशों का, मुख्यतः भाषा के आधार पर, पुनर्गठन किया गया। बम्बई और पंजाब को छोड़कर जितने भी द्विभाषी राज्य थे उन्हें अधिसंख्य जनता की भाषा के आधार पर नये सिरे से संगठित कर दिया गया था। बम्बई में मराठी भाषा बोलने वाले महाराष्ट्रीय और गुजराती भाषा बोलने वाले गुजराती लोग थे और उन्होंने मांग की कि गुजराती-भाषी और मराठी-भाषी राज्य अलग-अलग बना दिये जायें। इसके लिए गुजरात और महाराष्ट्र में दंगे भी हुए।

इन्दिरा सर्वेक्षण के लिए स्वयं महाराष्ट्र गई। लोग क्या चाहते हैं, यह उसने पता लगाया और लौट कर केन्द्र के समक्ष अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। पहले वह महाराष्ट्र क्षेत्र के लोकसभा-सदस्यों से मिली और फिर अपने द्वारा

संकलित तथ्यों की जांच-पड़ताल के लिए एक जांच-समिति नियुक्त की। समिति ने यह सिफारिश की कि बम्बई राज्य को दो नये राज्यों में विभक्त कर देना चाहिए। एक महाराष्ट्र, जिसकी राजधानी बम्बई रहे; और दूसरा गुजरात, जिसकी राजधानी अहमदाबाद हो। कार्यकारिणी ने इस सिफारिश को स्वीकार कर लिया और १ मई, १९६० को बाकायदा दोनों राज्य स्थापित किये गए।

इस कष्टप्रद यात्रा के दौरान इन्दिरा की तबीयत ठीक नहीं थी और वह दिल्ली लौटी तो इलाज जरूरी हो गया। निदान और चिकित्सा के लिए बम्बई के दो प्रमुख डाक्टर दिल्ली भेजे गए। परीक्षण के बाद उन्होंने गुर्दे की बीमारी बताई और फौरन ऑपरेशन करवाने की सलाह दी।

कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से इन्दिरा का कार्यकाल समाप्त होने को आ रहा था। कार्यकारिणी समिति का आग्रह था कि वह फिर से अध्यक्ष-पद के चुनाव में खड़ी हो। इन्दिरा ने इन्कार कर दिया। तब फरवरी १९६० में कामराज नादर कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए।

१८

"नेहरू के बाद कौन ?"

•

नवम्बर १९६१ में जवाहर अपनी दूसरी राजकीय यात्रा पर अमेरिका गये तो इन्दिरा फिर उनके साथ गई। इस वार उन्हें राष्ट्रपति जान एफ० केनेडी ने आमंत्रित किया था। केनेडी की बुद्धिमत्ता और राजनैतिक ज्ञान के जवाहर बड़े प्रशंसक थे। दोनों में कई बातें समान थी : दोनों ही ऊर्जस्वी और सभी को सक्रिय बनाये रखने वाले कर्मवीर थे; दोनों ही मनुष्य की स्वतंत्रता के रक्षक थे; दोनों उत्तरदायित्वों का स्वागत करते थे; दोनों ही उपलब्धियों के प्रति सचेष्ट थे; और दोनों ही लोगों को आकर्षित और प्रभावित करने वाले दैवी गुण से सम्पन्न थे। अमेरिका की प्रथम महिला जैकेलीन और कैरोलीन तथा जान जूनियर (राष्ट्रपति केनेडी की पत्नी और दो बच्चों) से मिलकर इन्दिरा और जवाहर को वड़ी प्रसन्नता हुई। राष्ट्रपति केनेडी ने भारत के सम्बन्ध में अपनी गहन रुचि का परिचय दिया और जवाहर ने, जिस नवस्वतंत्र देश का संविधान १९४९ में अमेरिकी संविधान के आदर्शों पर बनाया गया था, उसकी प्रगति स्वयं अपनी आंखों देखने के

लिए केनेडी-दम्पती को भारत आने का निमंत्रण दिया। लेकिन १९६२ के प्रारम्भ में जैकेलीन अकेली ही भारत आईं; अत्यावश्यक कार्यों से राष्ट्रपति केनेडी के लिए वाशिंगटन छोड़ना सम्भव न हो सका।

उस अवसर पर जवाहर ने मुझे खास तौर पर दिल्ली में उपस्थित रहने के लिए कहा। वे बोले, "मैं और इन्दु उनके मेहमान रह चुके हैं, मगर तुम उन्हें हमसे ज्यादा जानती हो और इसलिए हमारा खयाल है कि उन्हें (जैकेलीन को) तुम्हारे रहने से बेगानापन नहीं लगेगा।" राजा और मैं १९५६ में सिनेटर शेरमन कूपर (जो भारत में अमेरिका के राजदूत रह चुके थे) के घर वाशिंगटन में उनकी पत्नी लोरैन के साथ केनेडी-दम्पती से मिले थे। कूपर-दम्पती ने हमारे सम्मान में एक भोज दिया था, जिसमें दूसरे मेहमानों के साथ सिनेटर केनेडी और उनकी धर्मपत्नी भी आये थे। दोनों ही सिनेटर (कूपर और केनेडी) अपनी सरकार को इस बात पर राजी करने के लिए प्रयत्नशील थे कि भारत को वार्षिक आवंटन के स्थान पर दीर्घकालिक सहायता दी जानी चाहिए। उस भोज में सिनेटर केनेडी और राजा के बीच भारत के आर्थिक विकास और अमेरिकी मदद को लेकर लम्बी चर्चा हुई थी।

भारत आने पर जैकेलीन केनेडी और उनके सुरक्षा-अधिकारियों तथा सचिवालय के कर्मचारियों का पूरा अमला मेरे भाई का मेहमान बनकर उन्हीं के साथ प्रधानमंत्री-निवास में ठहरा। हमारे देशवासियों ने केनेडी-दम्पती के बारे में काफी सुन रखा था और यहां वालों के लिए जान केनेडी एक चमत्कारिक नाम था। जेकी दिल्ली में जहां भी जातीं उन्हें

देखने और उनके प्रति स्नेह और सम्मान प्रदर्शित करने के लिए लोगों की भीड़ लग जाया करती थी। मुझे उनसे और उनकी बहन राजकुमारी ली राज़िविल से दुबारा भेंट कर बड़ी प्रसन्नता हुई। वह हमारी अतीव प्रिय अतिथि थीं।

श्रीमती केनेडी की यात्रा समाप्त होते ही इन्दिरा अमेरिका की भाषण-यात्रा पर रवाना हो गई। मैंने बम्बई लौटने की योजना बनाई, लेकिन मेहमानों से भरा-पूरा घर एकदम इतना खाली और शान्त हो गया था कि जवाहर को अकेला छोड़ कर जाने को मेरा जी न हुआ। उनकी तबीयत भी अच्छी नहीं थी, मगर सवेरे से आधी रात तक बराबर अपने काम में जुटे रहते थे। एक दिन दोपहर के भोजन के बाद वह अपने सोने के कमरे में चले गए। मैं पीछे-पीछे गई तो वह बिस्तर पर लेटने जा ही रहे थे। मुझे यह बात असामान्य लगी। मैंने बुख़ार नापा, डाक्टर को बुला भेजा और उनके सचिव से कहकर उस दिन के सारे कार्यक्रम रद्द करवा दिये। शाम को करीब छः बजे वह हड़बड़ाकर जागे और नाराज़ होने लगे कि जगाया क्यों नहीं।

उनकी बीमारी बहुत गम्भीर थी, इसलिए मैं काफी चिन्तित हो गई और बराबर उनके सिरहाने बैठी रही। दो डाक्टर बराबर घर पर रहते और बुलाते ही हाज़िर हो जाते; लेकिन उनकी दवाओं और पथ्य से कोई लाभ नहीं हो रहा था। जवाहर की कमजोरी बराबर बढ़ती ही गई। यह देख मेरा माथा ठनका और मैंने घबराकर इन्दिरा को तार कर दिया कि फौरन घर लौट आए। लेकिन डाक्टर थे कि इस आशय के तार भेज कर उसे आश्वस्त करते रहे कि तुम्हारे

पिताजी के स्वास्थ्य में बराबर सुधार हो रहा है।

मैं कलकत्ता से अपने पारिवारिक चिकित्सक डाक्टर विधानचन्द्र राय (जो पश्चिम बंगाल के मुख्य मंत्री भी थे) को बुलाना चाहती थी। लेकिन जब भी कलकत्ता फोन लगाना चाहा, लाइन बराबर खराब मिली। अन्त में मैंने सहायता के लिए लालबहादुर शास्त्री को बुला भेजा। वह आये, ध्यान से मेरी शिकायतें सुनीं और जरूरत से ज्यादा चिन्ता करने के लिए मीठी झिड़की भी दी। मगर चिन्ता उन्हें भी ज़रूर हुई और उन्होंने डाक्टर राय को फोन पर तुरंत दिल्ली आने के लिए कहा।

दूसरे दिन सवेरे मैं डाक्टर राय को लेने हवाई अड्डे पर गई। दूसरे डाक्टरों के साथ उनके परामर्श के पहले ही मैं उनसे मिलना और अपनी आशंकाएं बता देना चाहती थी। उन्होंने बड़े स्नेह से मेरी पीठ थपथपाई, दिलासा दिया और कहा कि ज्यादा चिन्ता करना अच्छा नहीं।

"कहिए, बुढ़ऊ !" जवाहर के कमरे में प्रवेश करते हुए उन्होंने अपनी बुलन्द आवाज़ में कहा।

जवाहर ने बीमारी से कमजोर हो रही आवाज़ में जवाब दिया, "बूढ़ा किसे कह रहे हैं जनाब, जब खुद ही मुझसे उम्र में दस बरस बड़े हैं ? क्या आपको बेट्टी ने बुला भेजा है ?"

रोगी की परीक्षा के बाद डाक्टर राय परिचर्या करने-वाले चिकित्सकों के कमरे में चले गए। वहां उन्होंने बुखार के चार्ट और नुस्खों का अध्ययन किया। फिर डाक्टरों से बोले कि आप लोगों का निदान और उपचार दोनों ही गलत हैं। उन्होंने सारी दवाएं फिकवा दीं और नये सिरे से एकदम

भिन्न दवा-दारू और पथ्य-पानी की व्यवस्था की। अपनी उपचारविधि का परिणाम देखने के लिए वे तीन दिन दिल्ली में ही रहे।

नये इलाज से बहुत फायदा हुआ और जवाहर धीरे-धीरे अच्छे हो गए। इन्दिरा के आ जाने पर मैं बम्बई लौट आई। विदा के समय जवाहर ने "थैंक यू डार्लिंग," (प्यारी बहिन, तुम्हारा एहसानमन्द हूं) कहकर गले लगाया तो मेरे आंसुओं का बांध टूट गया।

जवाहर फिर अपने काम पर जुट गए, लेकिन अब पहले से कम ही काम कर पाते थे। वह बहुत दुबले लगते और पहले-जैसी शक्ति और जोश भी नहीं रह गया था। कांग्रेसी नेताओं ने यहां तक सोचना शुरू कर दिया कि इस हालत में वह देश के प्रधानमंत्री पद का भार कहां तक संभाल सकते हैं! उनके उत्तराधिकारी के बारे में तरह-तरह की अटकलें भिड़ाई जाने लगीं। नेताओं के एक सिंडीकेट की बात भी उठी और पूछा जाने लगा कि क्या क्ष, त्र और ज्ञ सरकार पर अधिकार कर लेंगे? उधर अंग्रेज़ और अमेरिकी पत्रकार शोर मचाने और इस बात को उछालने लगे कि "नेहरू के बाद कौन?" और "नेहरू के बाद क्या?"

एक भारतीय पत्रकार ने तो रूपक ही बांध दिया, कि "बरगद के तले कुछ भी नहीं उगता।" उसका अभिप्राय यह था कि जवाहर के उत्तुंग व्यक्तित्व के आगे अखिल भारतीय स्तर का दूसरा कोई नेता ठीक उसी तरह नहीं उभर पाता जिस प्रकार बरगद के विशाल वृक्ष के नीचे कोई पेड़, पौधा या घास तक नहीं पनप सकती।

कुछ लोगों ने तो यह भी सुझाव दिया कि जवाहर को अपना उतराधिकारी घोषित कर देना चाहिए। जब उनसे पूछा गया कि वह किसको नामजद करना चाहेंगे, तो उन्होंने जवाब दिया कि जनता स्वयं जनवादी तरीके से अपने नेता का चुनाव कर लेगी। यह पूछे जाने पर कि क्या वह इन्दिरा को इस पद के लिए तैयार कर रहे हैं, उन्होंने साफ शब्दों में इन्कार कर दिया। इस बारे में एक भेंटकर्ता से उन्होंने कहा :

"मैं उसे इस तरह के काम के लिए बिलकुल ही तैयार नहीं कर रहा हूं। लेकिन इसका यह मतलब भी नहीं कि उसे मेरे बाद जिम्मेदारी का कोई पद दिया ही नहीं जाना चाहिए। यह तो सभी जानते हैं कि कांग्रेस का अध्यक्ष बनने में न तो मैंने उसको तैयार किया और न उसकी मदद ही की; फिर भी वह अध्यक्ष बनी और उन लोगों का भी, जो मुझे और मेरी नीतियों को पसन्द नहीं करते, कहना है कि वह बहुत अच्छी अध्यक्ष थी। कभी-कभी वह अपना ही रास्ता अख्तियार करती और अपने ही ढंग से सोचती, जो मेरे सोचने के तरीके के बिलकुल खिलाफ होता, और उसका ऐसा करना सही भी था; लेकिन जिस मुद्दे पर मैं ज़ोर देना चाहता हूं वह यह कि उस ऊंचे पद के लिए, जो हमारे मुल्क में शायद सबसे ऊंचा पद है, न तो मैंने उसे चुना और न तैयार ही किया। लोगों ने उसे चुना। कांग्रेस ने उसको चुना।...सच तो यह है कि मैं कुछ समय तक मन-ही-मन इस विचार का (उसके चुने जाने का) विरोध करता रहा, मगर फिर भी वह चुन ली गई और तब हमने, बाप और बेटी की तरह नहीं, बल्कि राजनीति के दो सामान्य सह-कार्यकर्ताओं की तरह साथ-साथ काम

किया। कुछ बातों में हम एकमत थे तो कुछ बातों में हमारा भिन्न मत भी होता था। इन्दिरा के अपने ही स्वतंत्र और दृढ़ विचार हैं, जोकि होने भी चाहिए।"

एक और समय उन्होंने कहा, "नेतृत्व वंशपरम्परागत हो, इस तरह के विचार को बढ़ावा देने की बात मैं तो कभी सोच भी नहीं सकता। इस तरह का खयाल पूरी तरह गैर-जनवादी और अवांछनीय है।"

और जब जवाहर ने लालबहादुर शास्त्री को अपने मंत्रि-मंडल में बिना विभाग के केबिनेट-स्तर के मंत्री के रूप में लिया तो सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ। शास्त्रीजी कुल जमा पांच फुट के मुख्तसर आदमी थे—ज़रा भी रौबीला डील-डौल नहीं था। बहुत-से लोगों का यही खयाल था कि प्रधान मंत्री पद के लिए आवश्यक गुण उनमें हैं ही नहीं। लेकिन उस सीधे-सादे और निरीह आदमी की विशेषताओं को जवाहर खूब जानते थे।

१६५६ में तिब्बत पर चीनी आक्रमण के बाद भारत के पश्चिमोत्तर सीमान्त के दूरस्थ स्थानों में चीनी घुसपैठ तथा चीनी और भारतीय सैनिकों में मामूली झड़पों की वारदातें बराबर बढ़ती जा रही थीं। फिर भी जवाहर चीनियों के मित्रता के वादे पर लगातार विश्वास करते रहे। अक्तूबर १६६२ में राजा और मैं शिमला में छुट्टियां बिताने के लिए गये हुए थे। हमारा विचार तिब्बत के सीमावर्ती पहाड़ों तक जाने का था, लेकिन हमारे पुराने मित्र और पश्चिमी सैनिक कमान के कमाण्डर जनरल दौलतसिंह ने हमें उधर जाने की अनुमति नहीं दी। एक दिन अपने यहां बुलाकर उन्होंने हमसे

कहा कि चीन ने लद्दाख पर हमला बोल दिया है और तमाम सड़कें सैनिक सामग्री ले जाने वाले फौजी कान्वाय से पटी हुई हैं। हम जवाहर के पास फौरन दिल्ली लौट आए।

अक्तूबर और नवम्बर में बीस हज़ार चीनी सैनिक सेला दर्रे के रास्ते भारतीय सीमा में घुस आये। दुर्गम हिमालय का यह दर्रा अभेद्य माना जाता था। जो भारतीय सेना जनरल कौल की कमान में इस मोर्चे पर तैनात थी उसके पांव उखड़ गए। स्वयं जनरल कौल जाने कहां गायब हो गए और नेफा (पूर्वोत्तर सीमा-प्रदेश) का पूरा इलाका हमलावरों की ज़द में आ गया। चीनियों ने भारत के करीब चौदह हज़ार वर्ग-मील क्षेत्र पर कब्ज़ा कर लिया।

भारत के लिए यह सैनिक पराजय एक घोर विपत्ति थी। सबसे भारी आघात लगा था जवाहर को। चीनियों के इस विश्वासघात ने उनकी आंखें खोल दीं। उन्होंने बड़ी तीव्रता से इस बात को अनुभव किया कि चीनियों पर विश्वास करके भारतीय जनता को उन्होंने गुमराह किया है। संसद् के समक्ष भाषण करते समय उन्होंने स्वयं अपने को भी नहीं बख्शा, लेकिन साथ ही संकट की घड़ी में समूचे राष्ट्र को एकताबद्ध होकर शत्रु का मुकाबला करने के लिए अनुप्राणित करने के अपने कर्त्तव्य को भी न भूले। रक्षा-मंत्री कृष्ण मेनन को हटा दिया गया। जनरल कौल के हाथ में उस मोर्चे की कमान सौंपने के लिए वही जिम्मेवार थे। यशवन्त-राव चव्हाण मेनन की जगह रक्षा-मंत्री बनाये गए। चव्हाण ने कार्य-भार संभालते ही भारतीय सेना को शक्तिशाली और अधुनातन बनाने के लिए कई आवश्यक परिवर्तन किये।

जवाहर को उस संकट में अमेरिका और राष्ट्रमंडलीय देशों का समर्थन और सैनिक सहायता प्राप्त हुई।

इन्दिरा की अध्यक्षता में एक नागरिक सुरक्षासमिति बनी और उसी तरह की स्थानीय सुरक्षा समितियां सारे देश में बनाई गईं; ये समितियां सुरक्षा-कार्य में जनता का सहयोग-समर्थन प्राप्त करने में लग गईं। इन्दिरा संकटग्रस्त क्षेत्रों में गई, खासकर तेजपुर, जहां भारतीय सेना के हट जाने से लोग पूरी तरह डरे हुए थे और जहालपुर, जहां दंगों ने कहर ढा रखा था। उसके जाने से लोगों का मनोबल बढ़ा और अपनी सरकार के प्रति उनका खोया हुआ विश्वास पुनः लौट आया। वह नेफा और लद्दाख के ऊंचे बर्फीले पहाड़ों में तैनात सेना के जवानों के लिए गरम कपड़े, खाद्य सामग्री, दवाइयां आदि ज़रूरी चीज़ें इकट्ठा करके भेजने के काम में जुट गई।

पता नहीं क्यों, चीनियों ने अचानक एकपक्षीय युद्ध-विराम की घोषणा कर सारे विजित क्षेत्र से अपनी सेना हटा ली। राजनैतिक और सामरिक विशेषज्ञों का अनुमान है कि चीन ने भारत में व्यापक पैमाने पर अराजकता फैलने की आशा की होगी, जिससे भारत की कम्युनिस्ट पार्टी सत्तारूढ़ हो सके; लेकिन अपनी इस आशा को फलीभूत न होते देख चीन ने आगे बढ़ने के बजाय पीछे हट जाना ही ठीक समझा। भारत के लिए वह शान्ति बहुत लज्जाजनक और भारी पड़ी।

एशियाई देशों की एकता और मैत्री में आस्था खंडित हो जाने और देश के अन्दर नितनूतन समस्याओं के उठते जाने से जवाहर का स्वास्थ्य चौपट हो गया। पुरानी उमंग, उल्लास और उत्साह विदा हो गए। बुढ़ापा उनपर हावी होने लगा।

१९

भारतीय जनता के प्यारे जवाहर नहीं रहे !

•

आलोचनाओं से उत्तेजित होकर जवाहर ने कांग्रेस के आगामी अधिवेशन में अपनी आर्थिक योजना-सम्बन्धी नीतियों के बचाव का पक्का फैसला कर लिया। अधिवेशन उड़ीसा के भुवनेश्वर में १९६४ के जनवरी महीने के प्रारम्भ में होने जा रहा था। वहां देने के लिए उन्होंने जो भाषण तैयार किया था उसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। पूरा भाषण पढ़ने के बाद, समाप्ति के पहले, जैसे ही वे सारांश पर आये, कि उन्हें अचानक लकवा हो गया।

बम्बई में रेडियो पर खबर मिलते ही मैं उड़ीसा जाने के लिए व्यग्र हो उठी; लेकिन इतने में इन्दिरा का फोन आ गया कि उन्हें दिल्ली ले जा रहे हैं, हम वहीं आयें।

महीना बीतते-बीतते जवाहर के स्वास्थ्य में काफी सुधार हो गया। उनमें शक्ति का अखूट भण्डार था और साहस की भी कमी न थी, अच्छा होते देर न लगी। लेकिन जल्दी थक जाते थे और चलने में बायां पांव थोड़ा घिसटने लगा था। अप्रैल का महीना लगते-लगते वे भाषण भी देने लगे। वे और

इन्दिरा बम्बई में कांग्रेस पार्टी की मई की बैठक में भाग लेने के लिए आये थे। १८ मई को, बैठक खत्म होने पर, मैं उनके साथ विमान तक गई। वहां उन्हें विदा करने के लिए काफी संख्या में लोग आ जुटे थे। विमान उड़ान भरने की तैयारियां कर ही रहा था कि मैं अपने भाई से गले मिलने और विदा करने के लिए सीढ़ियों पर दौड़ी गई। अपने भाई से वही मेरा अन्तिम मिलन था।

२७ मई को सवेरे नान को और मुझे दिल्ली बुलाया गया। मैंने इन्दिरा को फोन किया। दुःख से बोझिल, बुझे हुए मन्द स्वर में उसने कहा—"पापू का कोई भरोसा नहीं; आप जल्दी आइये!" हमें ले जाने के लिए एक सरकारी विमान भेजा गया था। रास्ते में, विमान में ही खबर आई कि वे नहीं रहे!

तीनमूर्ति-भवन का लोहे का मजबूत फाटक बन्द था और बाहर हजारों की विषण्ण भीड़ अपने प्रिय नेता के अन्तिम दर्शनार्थ भीतर जाने के लिए धक्का-मुक्की कर रही थी। अन्दर सारा मकान केन्द्रीय मंत्रियों, संसद् एवं कांग्रेस दल के सदस्यों, कूटनीतिज्ञों तथा रिश्तेदारों से भरा हुआ था। हम लोग जब उस कमरे में पहुंचे जहां जवाहर को रखा गया था तो इन्दिरा अपने पिता के पास फर्श पर बुत की तरह बैठी थी। शव नीचे ले आया गया और राजकीय सम्मान के साथ रख दिया गया तो वह उसके पास खड़ी हो गई और सारी रात मूरत की तरह खड़ी रही—अन्तिम सम्मान प्रकट करने वाले हजारों लोगों की ओर एक बार भी उसका ध्यान न गया, बिना हिले-डुले, चुपचाप खड़ी ही रही। हम सबसे

अधिक हिम्मत वाली होते हुए भी दूसरे दिन सवेरे उसकी रुलाई फूट पड़ी, क्योंकि दिन के उजाले ने अब उसे उसकी अपूरणीय क्षति का पूरा भान करा दिया था। मैं उसके पीछे-पीछे उसके कमरे में गई, जहां एकान्त में वह जी भर कर रो रही थी। लेकिन जल्दी ही उसने अपने पर काबू पा लिया और मुझे उन लोगों की देख-भाल के लिए जाने को कहा जो दूर-दूर से उसके प्रिय पिता का अन्तिम दर्शन करने और सम्मान प्रकट करने के लिए आये थे; अपने घोर दुःख में भी वह घर-आये मेहमानों के चाय-नाश्ते के प्रबन्ध की बात न भूली। फिर उसने जल्दी में मुंह धोया और पुनः अपने पिता की बगल में जा खड़ी हुई।

अपने पिता के अन्तिम संस्कारों का प्रबन्ध इन्दिरा ने लालबहादुर शास्त्री की सलाह और सहायता से किया। वैसे स्वयं जवाहर अपनी वसीयत में लिख गए थे कि उनका दाह-संस्कार किया जाय :

"जब मैं मर जाऊं तो मेरे शव को जला देना।...उसमें से एक मुट्ठी राख गंगा में प्रवाहित कर देना...

"बची हुई राख के बारे में मेरी इच्छा है कि उसे हवाई जहाज से ऊपर ले जाकर जिन खेतों में भारत के किसान अपना पसीना बहाते हैं उनमें छिड़क दिया जाय ताकि वह भारत की धूल-मिट्टी में घुल-मिलकर भारत से इस तरह एकाकार हो जाए कि उसे अलग से पहचाना न जा सके।"

शवयात्रा तीनमूर्ति-भवन से शान्ति-वन के लिए रवाना हुई। जिस सैनिक गाड़ी पर जवाहर के भौतिक शरीर को रखा गया था, उसे सेना के चुने हुए जवान खींच रहे थे।

सैनिकों, सिपाहियों और शोकमग्न जनता की कतारों के बीच से अन्तिम जुलूस धीरे-धीरे आगे बढ़ा। लोग रो रहे थे, शव-वाहिका पर फूल बरसा रहे थे और अपने प्यारे जवाहर का जय-जयकार करते जा रहे थे। बीच-बीच में वे इन्दिरा का नाम भी लेते जाते थे, जो एक खुली मोटर में अपने बेटे संजय के साथ चल रही थी (बड़ा बेटा राजीव कैम्ब्रिज में था, इस लिए वह दूसरे दिन पहुंच पाया)। इस तरह लोग इन्दिरा से सहानुभूति प्रकट कर उसका दुःख बंटा रहे थे। शान्ति-वन की श्मशान-भूमि में अर्थी को परिवार के सदस्यों, अधिकारियों, कूटनीतिज्ञों और घनिष्ठ मित्रों ने अन्तिम प्रणाम किये, अंतिम वार उस पर फूल बरसाये गए और फिर चिता प्रज्वलित की गई। भस्मी और अस्थियां (फूल) चुनकर तांबे के एक बड़े और कई छोटे कलशों में भरी गईं।

दाह-कार्य के तेरहवें दिन गंगा में विसर्जन करने के लिए भस्मी के बड़े कलश को स्पेशल ट्रेन से इलाहाबाद ले चले। भारत के हृदय-देश से होकर जाने वाले पांचसौ मील लम्बे रेल मार्ग की यात्रा में पूरे चौबीस घण्टे लग गए। रास्ते में जगह-जगह ट्रेन को रुकना या अपनी चाल धीमी करना पड़ता था। रेलमार्ग के दोनों ओर, चाहे बस्ती हो या मैदान, सर्वत्र लाखों लोग कतारें बनाये अपने प्रिय नेता के भस्मी-पात्र की एक झलक पाने के लिए खड़े हुए थे। कलश को अवसर के उप-युक्त सुन्दर ढंग से सजाये हुए एक खुले डिब्बे में प्रतिष्ठित किया गया था और सामने इन्दिरा हाथ जोड़े फर्श पर बैठी थी। लोगों को इन्दिरा का दुःख अपना ही दुःख लग रहा था, क्योंकि जवाहर जितने इन्दिरा के उतने ही उनके अपने भी थे।

लोगों की वे मीलों-लम्बी कतारें जवाहर के प्रति भारतीय जनता के गहन प्रेम की परिचायक थीं। अपने जीवनकाल में स्वयं जवाहर लोगों के इस प्रेम को आंख की पुतली से भी अधिक मानते और सराहते रहे थे, जैसा कि उनकी वसीयत के आरम्भिक अंश से प्रकट होता है : "मुझे भारत के लोगों से इतना ज्यादा स्नेह और प्यार मिला है कि मैं किसी भी तरह, कुछ भी करके उसके एक छोटे-से अंश को भी अदा नहीं कर सकता, और सच में प्रेम-जैसी कीमती चीज़ की कोई अदायगी कभी हो भी नहीं सकती।"[1]

इलाहाबाद के लोगों ने अपने समय के उस महान् पुरुष को और भी शानदार लेकिन शान्तिपूर्ण ढंग से अन्तिम श्रद्धांजलि समर्पित की। जब हम कलश लेकर गंगा की ओर चले तो ठेठ सड़क तक के दोनों ओर ठट्ठ-के-ठट्ठ लोगों की भीड़ लगी हुई थी। इन्दिरा, उसके दोनों बेटे, नान और मैं एक नाव में भस्मी-पात्र को गंगा-यमुना के संगम तक ले गए। राजीव और संजय ने अस्थियां गंगा में प्रवाहित कीं।

दिल्ली लौट कर इन्दिरा जवाहर की भस्मी को पहाड़ों और नालों पर बिखेरने के लिए एक छोटा अस्थिकलश लेकर वायुयान से कश्मीर गई। मैंने और नान ने दिल्ली के आसपास के खेतों में उनकी भस्मी को बिखेरा। शेष पात्रों को मंत्रिमंडल के सदस्य भारत के अन्य भागों की धरती पर बिखेरने के लिए ले गए।

जवाहर की मृत्यु के दिन मंत्रिमंडल की आपत्कालीन बैठक में गृहमंत्री गुलज़ारीलाल नन्दा को कार्यवाहक प्रधान मंत्री नियुक्त किया गया। बाद के दिनों में कांग्रेस की कार्य-

कारिणी समिति की बैठकें हुईं। कार्यकारिणी ने कांग्रेस के अध्यक्ष कुमारस्वामी कामराज को नेहरू के उत्तराधिकारी के नाम का सुझाव देने का अधिकार प्रदान किया। कामराज ने अपनी पसन्द—लालबहादुर शास्त्री के नाम पर ज़ोर दिया।

संसद को तीन नामों में से प्रधानमंत्री का चुनाव करना था : मुरारजी देसाई, जिन्होंने अपनी उम्मीदवारी की घोषणा कर दी थी; नन्दा, जो कार्यवाहक प्रधानमंत्री थे; और लालबहादुर शास्त्री, जो बिना विभाग के मंत्री की हैसियत से जवाहर के घनिष्ठ सम्पर्क में रहकर काम कर चुके थे। इन्दिरा, पितृशोक के कारण, प्रधानमंत्री पद के भार को उठाने के लिए राज़ी नहीं हुई। २ जून को शास्त्रीजी सर्वसम्मति से कांग्रेस दल के नेता चुने गए और उन्हें सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया गया। एक सप्ताह के बाद उन्होंने प्रधान मंत्री पद की शपथ ग्रहण की।

शास्त्रीजी इन्दिरा को अपने मंत्रिमंडल में विदेश-विभाग सौंपना चाहते थे। लेकिन उसने मना कर दिया, क्योंकि वह पूरा समय अपने पिता के स्मारक की स्थापना के काम में लगाना चाहती थी। लेकिन शास्त्रीजी हार माननेवाले जीव नहीं थे। उन्होंने दूसरे विभाग देना चाहे। उनका तर्क था कि नेहरू की बेटी के होने से उनके मंत्रिमंडल की प्रतिष्ठा बढ़ेगी और सरकार के आन्तरिक एवं वैदेशिक मामलों से इन्दिरा के अच्छी तरह परिचित होने के कारण स्वयं उनके लिए काम करना आसान होगा। अन्त में इन्दिरा को राज़ी होना ही पड़ा—उसने सूचना और प्रसारण के अपेक्षाकृत छोटे विभाग का मंत्री बनना स्वीकार कर लिया।

२०

मंत्रिमंडल में

•

केन्द्र में मंत्री बनने के बाद इन्दिरा को एक सरकारी मकान दिया गया। अब वह १ सफदरजंग रोड में रहने लगी, जो तीनमूर्ति-भवन से काफी छोटा था। इस नये मकान में सोने के केवल चार कमरे थे, जिनमें से दो दफ्तर और मुलाकातियों के बैठने के काम के लिए दे देने पड़े। मकान के साथ खुली हुई जमीन भी बहुत कम थी—इतनी कम कि जो लोग सवेरे-सवेरे मिलने के लिए आ जाते, वे भी नहीं समा पाते थे। लोगों का सवेरे-सवेरे आना उस प्रथा का ही अविच्छिन्न क्रम था जो जवाहर के समय शुरू हुई थी और जब लोग, काम हो या न भी हो, सिर्फ उनके दर्शनों के लिए पहुंच जाया करते थे। इस परिपाटी को बनाये रखकर इन्दिरा लोगों से मिलती, उनकी शिकायतें सुनती और अक्सर उनकी कठिनाइयां दूर करने के उपाय करती थी। जवाहर की ही तरह वह लोगों से मिलकर और उनसे बातें करके प्रसन्न होती, प्रेरणा ग्रहण करती और शक्ति प्राप्त करती थी; बदले में लोग भी उसे अपना स्नेह, प्यार और श्रद्धा देते थे।

भारत के संविधान के अनुसार केन्द्रीय मंत्री को संसद् के दोनों में से किसी भी एक सदन का सदस्य होना चाहिए। लोकसभा के सदस्यों का चुनाव होता है। पिता को मरे थोड़े ही दिन हुए थे, इसलिए इन्दिरा चुनाव के हंगामे को ओढ़ने की मनःस्थिति में नहीं थी। उसने राज्यसभा का सदस्य बनना ज्यादा उपयुक्त समझा और वह नामज़द कर दी गई। और इस तरह संसदीय प्रणाली तथा सूचना एवं प्रसारण-मंत्रालय का काम सीखने का अवसर उसे मिला।

भारत-जैसे विशाल देश में, जहां व्यापक रूप से निरक्षरता है और संचार-साधनों की बेहद कमी, रेडियो और टेलीविज़न घर-बैठे ज्ञान प्राप्त कराने के काम में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। लेकिन भारतीय कार्यक्रम स्तर और समय, दोनों ही दृष्टियों से उन्नत देशों की तुलना में बहुत पिछड़े हुए थे। प्रसारणों को बहुत कम लोग सुन पाते थे, क्योंकि महंगा होने के कारण औसत आदमी रेडियो खरीद नहीं सकता था।

इन्दिरा ने ज्यादा लोगों तक रेडियो-कार्यक्रमों को पहुंचाने का उपाय सोचा। "भारत में बने बहुत महंगे रेडियो ही सैकड़ों मील दूर तक के स्टेशन पकड़ सकते थे, इसलिए एक से अधिक स्टेशनों को पकड़नेवाले शार्टवेव ग्राही सस्ते ट्रांज़िस्टर रेडियो बनाने" के उद्योगों को उसने बढ़ावा दिया। और "जो रेडियो-प्रसारण अभी तक सरकार के एकछत्र अधिकार में था और शासक दल का ही राग अलापा करता था उसे उसने विरोधी दलों के सदस्यों और स्वतंत्र विचार के वक्ताओं के लिए भी सुलभ कर दिया।"[1]

नई दिल्ली में एक छोटा-सा टेलीविज़न-केन्द्र भी था; लेकिन उसके कार्यक्रम उच्च कोटि के नहीं होते थे। परिवार-नियोजन-सम्बन्धी सामाजिक महत्त्व के एक ही कार्यक्रम द्वारा इन्दिरा ने उसे लोकरुचि-सम्पन्न बना दिया। उस कार्यक्रम में निरोध की कृत्रिम पद्धतियों को भी समझाया गया था। वह कार्यक्रम इस बात का सूचक था कि इन्दिरा भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या के बारे में सजग और उसे रोकने के लिए भी सचेष्ट थी।

उसके मंत्रालय के अन्तर्गत सिनेमा, नाटक और नृत्यकला से सम्बन्धित कुछ विशिष्ट प्रशासकीय कार्य भी थे। इन्दिरा ने इन क्षेत्रों में आधुनिक विधाओं को प्रोत्साहित किया, अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म-महोत्सव शुरू करवाया और नाट्य एवं नृत्य दलों को सरकारी सहायता प्रदान की। प्रगतिशील (अति नैतिकतावादी नहीं) दृष्टिकोण वाले स्त्री-पुरुषों को फिल्म सेन्सर बोर्ड में नियुक्त कर उसने उसे एक नया रूप ही दे दिया।

इन्दिरा कई विदेशी नेताओं से मिल चुकी थी और अनेक महत्त्वपूर्ण राजनयिक चर्चाओं में उपस्थित रह चुकी थी, इसलिए मंत्रि-परिषद में उसका स्थान काफी ऊंचा था। भारत सरकार के प्रतिनिधि की हैसियत से एक मंत्री के रूप में मास्को के निमंत्रण पर सोवियत संघ की यात्रा उसका पहला महत्त्वपूर्ण वैदेशिक कार्य था। अब वहां निकिता ख्रुश्चेव के स्थान पर अलेक्सी कोसीजिन और ल्योनिद ब्रेज़नेव शासनारूढ़ थे। सवाल यह था कि क्या भारत के प्रति रूसी नीति में परिवर्तन होगा? इन्दिरा नये सोवियत नेताओं से यह

आश्वासन लेकर दिल्ली लौटी कि रूस भारत-सोवियत मैत्री की कद्र करता है और भारत को दी जानेवाली आर्थिक और सैनिक सहायता जारी रहेगी।

इसके बाद वह नेहरू-स्मारक प्रदर्शनी के उद्घाटन समारोह की अध्यक्षता के लिए न्यूयार्क गई। अमेरिका के उस समय के उपराष्ट्रपति ह्यूबर्ट हम्फरी ने प्रदर्शनी का उद्घाटन किया था। घटनाओं और जीवनी-सम्बन्धी टिप्पणियों सहित तिथि-क्रमानुसार लगाये गए चित्रों के द्वारा जवाहर के जीवन और कृतित्व पर उस प्रदर्शनी में प्रकाश डाला गया था।

जैकेलीन कैनेडी भी उद्घाटन-समारोह में आई थीं। पति की हत्या के बाद किसी भी सार्वजनिक समारोह में उपस्थित होने का वह उनका पहला ही अवसर था, जो भारत के प्रति उनके मैत्रीभाव का ही प्रमाण था। उस समय की एक छोटी-सी घटना उनकी शालीनता और महनीयता को उजागर करती है : मंच की सीढ़ियां चढ़ते हुए वहां तैनात एक भारतीय रक्षक का अभिवादन करने के लिए वे उससे हाथ मिलाने के लिए पहुंच गई थीं। वह रक्षक भारत के राष्ट्रपति के कर्मचारीवर्ग में से था। अपने गणवेश और नीली पगड़ी में सावधान मुद्रा में खड़ा वह लम्बा और सुदर्शन युवक गजब का खूबसूरत लग रहा था। सीढ़ियां चढ़ते हुए श्रीमती केनेडी ने उसे पहचान लिया। भारत-यात्रा के दौरान वही उनका द्वाररक्षक था; वे हाथ मिलाने के लिए उसके पास गईं, परन्तु वह नाक की सीध में देखता हुआ चट्टान की तरह खड़ा रहा। वे समझ गईं कि यह इस समय पहरे पर है और मुस्कराकर लौट गईं। बाद में उस रक्षक ने स्वयं जाकर श्रीमती केनेडी

को प्रणाम किया और अपने विवशताजन्य अविनय के लिए क्षमा मांगी।

इन्दिरा का अधिकांश समय अब भी समाज-कल्याण के काम में जाता था। इस क्षेत्र में सरकार की कमजोरियों और गलतियों को उसने मुक्त मन से स्वीकार किया है। एक लेख में उसने कहा, "सरकारी कार्यक्रम का फैलाव तो जरूर होता जाता है, मगर हमेशा उतनी तरतीव से नहीं जितना कि होना चाहिए। आम तौर पर काम ऐसे लोगों को सौंप दिया जाता है जिनमें न तो सहानुभूति है और न समझ। कानून तो बहुत-से बना दिये गए हैं, लेकिन क्या हम ईमानदारी से कह सकते हैं कि उनका पालन किया जाता है?"[२]

महीनों से पाकिस्तान भारत में घुसपैठिये भेज रहा था, जिनका काम अपने मालिकों के इशारों पर, पुलों को उड़ाना और संचार-व्यवस्था को ध्वंस करना था। पाकिस्तान को उम्मीद थी कि कश्मीर के लोग विद्रोह कर देंगे और हमलावरों के साथ हो जायंगे। मगर हुआ इसका उलटा ही; कश्मीर की सरकार ने हजारों की तादाद में घुसपैठियों को गिरफ्तार किया या मौत के घाट उतार दिया और वहां की जनता भारत के प्रति वफादार वनी रही।

सितम्बर १९६५ में पाकिस्तानी सेना ने भारत पर आक्रमण कर दिया। पाकिस्तान के आक्रमण का लक्ष्य जम्मू जिला था, क्योंकि उसका इरादा कश्मीर घाटी और भारत के बीच के एकमात्र सड़क-सम्पर्क को काट देना था। उसने टैंकों और आधुनिक हथियारों से लैस होकर जोरदार हमला किया और अपनी शक्तिशाली वायु-सेना को भी पंजाब होकर नई दिल्ली पहुंचने

का रास्ता खोलने के लिए जंग में उतार दिया। पाकिस्तान-रेडियो ने घोषणा की कि तीन दिन में दिल्ली पर हमारा कब्जा हो जायगा, मगर यह हवाई घोषणा ही रही और वे दिल्ली के करीब भी नहीं फटकने पाये। भारतीय सेना ने बड़ी बहादुरी से अपनी धरती की रक्षा की और फिर इतने ज़ोर का हमला किया कि पाकिस्तानी सीमा के पार ठेठ लाहौर तक बढ़ते चले गए, जहां घमासान लड़ाई में दोनों पक्षों को भारी हानि उठानी पड़ी।

पाकिस्तान के पास नई-से-नई सैनिक सामग्री और शस्त्रास्त्र थे। ये हथियार अमेरिका ने पाकिस्तान को सीटो (दक्षिण-पूर्व एशिया सन्धि संगठन) और सेंटो (मध्य सन्धि संगठन) में शरीक होने के फलस्वरूप रूस और चीन के खिलाफ आत्म-रक्षा के लिए दिये थे। राष्ट्रपति आइज़नहावर ने भारत को यह आश्वासन दिया था कि पाकिस्तान को दिये गए अमेरिकी शस्त्रास्त्र भारत के खिलाफ इस्तेमाल नहीं किये जायंगे। जब भारत ने अमेरिका को इस आश्वासन की याद दिलाई तो उसने यह किया कि पाकिस्तान और भारत दोनों को ही दी जाने वाली सैनिक सहायता बन्द कर दी। (भारत को १९६२ के चीनी आक्रमण के समय से, बहुत ही सीमित मात्रा में, अमेरिकी सैनिक सहायता मिल रही थी।)

हमारी वायुसेना सुसज्जित नहीं थी और लड़ाकू विमान भी ज्यादा तेज़ गति वाले नहीं थे, फिर भी हमारे हवाबाज़ों ने अपने साधारण विमानों से ही कमाल कर दिखाया—कई हवाई मुठभेड़ों में उन्होंने पाकिस्तान के श्रेष्ठ अमरीकी विमानों को अपने देश के आसमान से मार भगाया। पाकिस्तान ने

यह समझ बैठने की भूल की थी कि १९६२ में से-ला दर्रे से चीनियों के मुकाबले सिर पर पांव रखकर भाग खड़ा होने वाला भारतीय सैनिक निरा मिट्टी का पुतला होगा। भारतीय सेना उस पराजय को भूली नहीं थी, हार के सबक को उसने गांठ बांध लिया; और फुर्ती से सेना का आधुनिकीकरण कर लिया गया। उस युद्ध का जनरल जे० एन० चौधरी ने बड़ी योग्यता से संचालन किया।

इन्दिरा युद्ध-क्षेत्र में जानेवाली पहली केन्द्रीय मंत्री थी। वह मोर्चों पर जवानों से और घायलों से अस्पताल में जा-जाकर मिली। जवानों की देश-भक्ति, निष्ठा और कारगुज़ारियों की उसने दिल खोलकर तारीफ की और उन्हें गौरवान्वित भी किया। देश की रक्षा के लिए लड़ने के कर्त्तव्य पर पूरा ज़ोर देते हुए उसमें उनके व्यक्तिगत योगदान के महत्त्व की बात इन्दिरा ने जावनों के दिलों में बिठा दी।

विभिन्न नगरों के दौरे कर उसने सुरक्षा-प्रयत्नों में पूरी-पूरी सहायता करने के लिए स्थानीय नागरिक सुरक्षा-समितियों को सक्रिय और प्राणपूरित किया। भारत की रक्षा में मोर्चे पर प्राण निछावर कर रहे बहादुर जवानों की सहायता के लिए देश की जनता कमर कसकर जुट गई। लेकिन भारत में युद्ध कोई चाहता नहीं था। गरीब और भूखी जनता पर युद्ध के क्या आर्थिक दुष्परिणाम होंगे, इसे हम बहुत अच्छी तरह जानते थे। पश्चिमी पाकिस्तान में हमारे लिए लाहौर पर कब्ज़ा करना बहुत आसान था, लेकिन हम पाकिस्तान की एक इंच भी ज़मीन हड़पना या अपने अधिकार में करना नहीं चाहते थे।

भारत की जीत ने पाकिस्तान को समझौते के लिए बाध्य कर दिया। कश्मीर में उसका सारा हिसाब गड़बड़ा गया था और चीन ने पूरब में दूसरा मोर्चा खोलकर उसकी मदद नहीं की थी। बड़ी ताकतों ने फौरन लड़ाई बन्द करने पर ज़ोर दिया और कई देशों की ओर से मध्यस्थता के प्रस्ताव भी आये। और जब सोवियत संघ के प्रधानमंत्री अलेक्सी कोसीजिन ने लालबहादुर शास्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति अय्यूबखान को संभावित समझौता-वार्ता के लिए अपने पास ताशकन्द आने का निमन्त्रण दिया तो दोनों ने उसे स्वीकार कर लिया।

१६६६ के जनवरी महीने के आरम्भ में ताशकन्द में बैठक हुई। दोनों देशों द्वारा स्वीकृत और मान्य एक युद्ध-विराम रेखा निर्धारित की गई और दोनों देशों ने अपनी-अपनी सेनाएं मोर्चों पर से हटा लीं। तय पाया कि भारत या पाकिस्तान कोई भी युद्ध-विराम रेखा को भंग नहीं करेगा। लेकिन इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह समझौता था कि पारस्परिक झगड़ों या मतभेदों को निपटाने के लिए दोनों में से कोई भी राष्ट्र युद्ध का सहारा नहीं लेगा। यह वास्तव में एक तरह से परस्पर युद्ध न करने का, शान्ति बनाये रखने का ही समझौता था, जिसका भारत पाकिस्तान के समक्ष लगातार प्रस्ताव करता चला आ रहा था। ताशकन्द समझौते के दूसरे मुद्दे इस प्रकार थे : दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना; विरोधी प्रचार बन्द कर देना; आर्थिक, संचार और सांस्कृतिक सम्बन्धों को पुनः आरम्भ करना; और जो समझौते पहले किये जा चुके हैं उन्हें कार्यान्वित

करना।

ताशकन्द समझौता होने की खुशी में रूसियों ने एक दावत दी। वहां से शास्त्रीजी अपने निवास-स्थान पर लौटे तो उन्होंने टेलीफोन करके अपने पुत्र से यह जानना चाहा कि भारत में समझौते को लेकर क्या प्रतिक्रिया हुई है। उन्हें खास तौर से इस बात की चिन्ता थी कि कश्मीर में सामरिक महत्त्व के जो दर्रे थे उनसे हमें अपनी सेना हटा लेने की बात माननी पड़ी थी। रात में शास्त्रीजी को दिल का दौरा पड़ा और उनकी मृत्यु हो गई।

इस आघात ने भारत को स्तम्भित कर दिया। देश अपने दूसरे प्रधान मंत्री की मृत्यु के शोक में डूब गया, जो केवल अट्ठारह महीने ही उस पद पर रह पाया था। इतने थोड़े समय में ही लालबहादुर शास्त्री ने अपने देशवासियों के दिलों को जीतकर उनका सम्मान प्राप्त कर लिया था।

२१

इन्दिरा गांधी का चुनाव

•

लालबहादुर शास्त्री की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता उनके शासन-काल में, जो ९ जून १९६४ से ११ जनवरी १९६६ तक रहा, निरन्तर बढ़ती गई। वे पक्के गांधीवादी थे और जनता में उनके कई निष्ठावान अनुयायी थे, जिन्होंने पाकिस्तानी युद्ध के दौरान और ताशकन्द सम्मेलन में उनके कार्यों और आचरण की भूरि-भूरि प्रशंसा की। वे मंत्रि-परिषद् की बैठकों में विचार-विनिमय को प्रोत्साहित करते थे, निर्णयों के मामले में सभी की राय लेते और नीति-निर्धारण के सम्बन्ध में उच्च कोटि के तथा खूब ठोक-बजाकर चुने हुए परामर्शदाताओं पर निर्भर करते थे। कच्छ के रन को लेकर पाकिस्तान के साथ जो तनावपूर्ण स्थिति निर्मित हो गई थी, उसका उन्होंने शांति-पूर्ण हल खोज निकाला था। वे शान्तिप्रिय व्यक्ति थे और उन्होंने देश का विनम्र दृढ़ता से नेतृत्व किया।

लेकिन साथ ही शास्त्रीजी का कार्य-काल देश पर विपत्तियों का काल भी रहा। युद्ध के बढ़े हुए खर्चों और वर्षा न होने के कारण देश की समूची अर्थ-व्यवस्था ही गड़बड़ा गई। लोग

वर्षा के लिए यज्ञ, पूजा और प्रार्थनाएं करते रहे, लेकिन पानी नहीं बरसा। अनावृष्टि के कारण १९६५ की गर्मियों में सूखा पड़ गया, देश के कई हिस्सों में अकाल की स्थिति निर्मित हो गई और अन्न के लिए दंगे होने लगे। तीसरी पंचवर्षीय योजना, जो जवाहर के कार्यकाल में बनी थी, कृषि और औद्योगिक पैदावार के अपने लक्ष्यों को पूरा करने में असफल रही। औद्योगिक और कृषि-उत्पादन को आगे बढ़ाने के लिए राष्ट्र को पूंजीगत साधनों की जरूरत थी, जिनका नितान्त अभाव हो गया था। कुल मिलाकर अर्थव्यवस्था की गति अवरुद्ध हो गई थी।

साथ ही केन्द्रीय मंत्रिमंडल और राज्य विधान-सभाओं में भी झगड़े होने लगे और राजनैतिक संकट अपना सिर फिर उठाने लगा। भाषाई दंगों का दौर शुरू हो गया। संविधान में १९६५ तक हिन्दी को भारत की राजभाषा बनाने का प्रावधान किया गया था। भारत में चौदह भाषाएं और उनकी सब मिलाकर कोई आठेक सौ बोलियां हैं। संविधान के भाषा-सम्बन्धी इस प्रावधान का सबसे अधिक विरोध दक्षिण में हुआ और वहां के लोगों का गुस्सा भड़क उठा। खास करके मद्रास के तमिष-भाषी लोग बहुत उत्तेजित हो गए। उन्होंने रेलगाड़ियां जला डालीं और सरकारी इमारतों में आग लगा दी। पुलिस को क्रुद्ध भीड़ पर गोली चलानी पड़ी जिसके फलस्वरूप साठ आदमी मारे गए। संसद् जिसमें हिन्दी-भाषियों की बहुलता है, शास्त्रीजी की नरम और समझौतावादी नीति के खिलाफ और नाराज हो गई। बदले की कार्रवाई के रूप में उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश में भी भाषा के सवाल को

लेकर दंगे हुए।

उस वर्ष के सूखे और अन्न-संकट का सबसे अधिक प्रभाव शास्त्रीजी के अपने प्रान्त उत्तरप्रदेश पर पड़ा और अनाज की दुकानें आदि लूटे जाने की सबसे अधिक वारदातें भी उसी राज्य में हुईं। देश के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान-शेष में उत्तरोत्तर कमी होती जा रही हो, ऐसी स्थिति में देशवासियों के लिए अनाज का प्रबन्ध कैसे और कहां से किया जाए, इस प्रश्न को लेकर संसद् में सदस्यों के बीच प्रायः तीखी झड़पें हो जाया करतीं। फसलें कम हुईं; उर्वरकों की कोई परियोजना पूरी नहीं हो पाई; और इस बीच जनसंख्या की रफ्तार प्रतिवर्ष एक करोड़ बीस लाख की दर से बढ़ती जा रही थी।

अमेरिका ने अनाज भेजकर मदद की और भारत तथा अमेरिका के आपसी सम्बन्ध भी काफी अच्छे रहे। लेकिन जब शास्त्रीजी ने उत्तरी वियतनाम पर अमेरिकी बमबारी की आलोचना की तो दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध बिगड़ गए। राष्ट्रपति जानसन ने शास्त्रीजी को वाशिंगटन आमंत्रित करने की जो योजना बना रखी थी, उसे रद्द कर दिया। (राष्ट्रपति जानसन ने १९६६ के जनवरी महीने के आरम्भ में शास्त्रीजी को निमंत्रित करने की योजना बनाई थी, लेकिन ताशकन्द की ११ जनवरी की दुःखद घटना के कारण वह योजना पूरी न हो सकी।)

११ जनवरी को बड़े सवेरे जसे ही शास्त्रीजी की मृत्यु की खबर नई दिल्ली पहुंची, कार्यवाहक प्रधानमंत्री का भार गुलज़ारीलाल नन्दा को सौंपा गया, क्योंकि मंत्रिमंडल में वही सबसे वरिष्ठ सदस्य थे।

देश के संविधान के अनुसार संसद् का बहुमत दल अर्थात् कांग्रेस पार्टी—अपना नेता चुनता है और उसी को मंत्रिमंडल बनाने के लिए आमंत्रित किया जाता है। निर्वाचित नेता ही अपने मंत्रिमंडल के सदस्यों की नियुक्तियां करता है। लेकिन इस बार नेता के चुनाव का प्रश्न इतने आकस्मिक रूप से सामने आया कि कांग्रेस में खींच-तान होने लगी। कांग्रेस कार्यकारिणी के नेताओं में जबर्दस्त मतभेद था और राज्य-सरकारें स्वायत्तता के दावे पेश करती हुई अलग ही तनी जा रही थीं।

ऐसे में नये-नये दलों को कांग्रेस को बदनाम करने का बहुत अच्छा मौका मिल गया। अनुदार विचारों की स्वतंत्र पार्टी का झुकाव पश्चिम की ओर था, जबकि जनसंघ घोर दक्षिणपन्थी विचारधारा का लड़ाकू संगठन था।

उस समय प्रधानमंत्री पद के कई दावेदार थे, जिनमें प्रमुख भूतपूर्व केन्द्रीय वित्त-मंत्री (बाद में उप-प्रधानमंत्री) और कट्टर गांधीवादी तथा परम उत्साही मुरारजी देसाई और पहले भारत-पाक युद्ध में सेना का पूरी तरह कायाकल्प करने वाले रक्षा-मंत्री यशवन्तराव चव्हाण प्रमुख थे। एक जमाने में देसाई और चव्हाण ने बम्बई राज्य के मंत्रिमंडल में साथ-साथ काम किया था; यह उस समय की बात है जब महाराष्ट्र और गुजरात के अलग राज्य नहीं बने थे। जब देशाई केन्द्र में आये तो बम्बई राज्य का मुख्यमंत्रित्व अपने विश्वसनीय साथी चव्हाण को इस आशा में सौंपते आये कि वे मराठी-भाषी और गुजराती-भाषी गुटों को दो अलग राज्य नहीं बनाने देंगे। लेकिन चव्हाण ने बंटवारे को प्रोत्साहन ही

दिया और वह भी इस तरह कि बम्बई की सम्पन्न नगरी महाराष्ट्र की राजधानी हो। मुरारजी ने इसे विश्वासघात माना और दोनों आपस में राजनतिक विरोधी बन गए।

नेता पद के अन्य दावेदारों में गुलज़ारीलाल नन्दा, जगजीवन राम और सादोबा पाटिल भी थे। पाटिल बम्बई कांग्रेस समिति के सर्वेसर्वा अध्यक्ष और पश्चिम बंगाल, बम्बई तथा मद्रास के कांग्रेसाधिपतियों की 'सिंडीकेट' के मुख्य स्तम्भ थे।

उन दिनों नौ राज्यों की कांग्रेस पार्टी पर सिंडीकेट का पूरा नियंत्रण था। कांग्रेस-अध्यक्ष कामराज से सिंडीकेट का इसलिए मनमुटाव हो गया था कि उन्होंने दूसरी बार भी अध्यक्ष बने रहने पर जोर दिया और उसमें सफल भी हो गए। सिंडीकेट के सदस्य पुरातनपंथी थे। वे राजा बनाने (किंगमेकर) का काम करते थे। अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए वे केन्द्र के नेता के रूप में ऐसे कमज़ोर और आज्ञाकारी व्यक्ति को चाहते थे जो पूरी तरह उनकी मुट्ठी में रहे। वे जानते थे कि मुरारजी को दबाकर रखना उनके बूते का नहीं, इसलिए उन्होंने इनका विरोध किया। नन्दा उनकी मर्जी के आदमी थे, लेकिन कांग्रेस पार्टी में उनके समर्थक नहीं थे।

कांग्रेस की कार्यकारिणी पार्टी के भविष्य को लेकर बहुत चिन्तित थी। एक तो देश में अर्थ-संकट दिनों-दिन गहरा होता जा रहा था और दूसरे कई कांग्रेसी मंत्रियों के भ्रष्टाचार के किस्से लोगों की ज़ुबान पर थे। इन दोनों कारणों से आम लोगों का असन्तोष कांग्रेस और कांग्रेसी शासन के खिलाफ

बढ़ता जा रहा था। ऐसी विषम परिस्थिति में जवाहर-जैसा प्रभावशाली और लोकप्रिय व्यक्ति ही, जो चुनाव-अभियान को कारगर ढंग से चला सके और लोगों का विश्वास सम्पादित कर सके, कांग्रेस के अन्दर मतभेदों की खाई को पार कर एकता स्थापित कर सकता था।

कामराज के आगे प्रस्ताव रखा गया कि क्यों न वही पार्टी-नेता का चुनाव लड़ें, लेकिन उन्होंने अपने-आपको इस पद के उपयुक्त नहीं माना। वह ठेठ जनता के स्वयं-शिक्षित आदमी हैं और केवल अपनी मातृभाषा तमिल जानते हैं। भारत-जैसे बहुभाषी देश में, जहां अधिसंख्य लोग हिन्दी बोलते और समझते हैं, प्रधानमंत्री बन जाने पर उन्हें जनता के समक्ष भाषण देने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता। उनकी दृष्टि में इन्दिरा इस सर्वोच्च पद के लिए सभी तरह से उपयुक्त थी; अकेली वही लोगों का विश्वास सम्पादित कर केन्द्र में मजबूत सरकार बना सकती थी और पार्टी की एकता को भी बनाये रख सकती थी। देश और विदेश में सर्वत्र उसकी प्रचुर ख्याति थी, उसका कोई शत्रु नहीं था और वह अखिल भारतीय नेता के रूप में मान्य हो चुकी थी।

कामराज ने कार्यकारिणी के समक्ष उसका नाम प्रस्तावित करते हुए यह भी कहा कि नेता का चुनाव बिना किसी विरोध के और सर्वसम्मति से करना अति उत्तम और गरिमामय होगा। लेकिन मुरारजी ने खुले चुनाव पर जोर दिया और कहा कि कार्यकारिणी को पार्टी के इस मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। निर्वाचकों के समक्ष उन्होंने यह तर्क रखा कि नेतृत्व के लिए इन्दिरा की अपेक्षा वे अधिक उपयुक्त

हैं। इन्दिरा ने उनके इस दावे के सम्बन्ध में सिर्फ यही जवाब दिया, "फैसला संसद्-सदस्यों को करना है कि वे किसे प्रधान-मंत्री बनाना चाहते हैं।"[1]

उधर उम्मीदवार अपने पक्ष में कांग्रेसी सदस्यों के बीच जोड़-तोड़ भिड़ा रहे थे, इधर कामराज 'राजा बनानेवाले' की भूमिका निभा रहे थे। उन्होंने इन्दिरा के पक्ष में अपनी पूरी ताकत लगा दी। जिन दस राज्यों में कांग्रेस पार्टी की सरकार थी वहां के मुख्य मंत्रियों को दिल्ली बुलाकर उन्होंने कहा कि आपके यहां के संसद्-सदस्यों को मेरे उम्मीदवार का समर्थन कर उसीको अपना मत देना होगा और इसकी पूरी ज़िम्मेवारी आप लोगों पर है। इन्दिरा से उन्होंने संसद् में कांग्रेस पार्टी के नेता के चुनाव में खड़े होने के लिए कहा। इन्दिरा मन से तो यही चाहती थी कि मामला निर्विरोध तय हो जाए; लेकिन जब चुनाव की चुनौती सामने आई तो उसे उसने सहर्ष स्वीकार कर लिया, ज़रा भी न घबरायी। और न वह कामराज के इस पत्र से ही हतोत्साहित हुई कि उसका चुनाव महज़ अस्थायी है। उन्होंने लिखा था, "हम बूढ़े हो गए, और तुम दुबारा चुनाव लड़ीं तो मदद के लिए शायद न भी रहें।"[2] लेकिन इन्दिरा जानती थी कि पार्टी के ये पुरातनपंथी कुछ भी क्यों न करें, जनता उसके साथ है। जब पत्रकारों ने उससे चुनाव लड़ने की उसकी रज़ामन्दी के बारे में पूछा तो उसने जवाब दिया, "मैं वही करूंगी जो श्री कामराज कहेंगे।" दूसरे शब्दों में इसका मतलब यह हुआ कि अगर कार्यकारिणी के बहुमत ने उसका नाम प्रस्तावित किया तो वह रज़ामन्द हो जायगी।

चुनाव की तारीख १९ जनवरी, १९६६ तय की गई। उस दिन संसद् के कांग्रेसी सदस्य अपने पार्टी-नेता का निर्वाचन करने जा रहे थे।

मैं व्यग्र हो उठी। बार-बार यही लगता था कि इन्दिरा बिलकुल अकेली है। उसके दोनों बेटे इंग्लैंड में थे। मैं फौरन उसके पास पहुंच जाना चाहती थी। गिरने से मेरी रीढ़ की हड्डी टूट गई थी और डाक्टर की सख्त हिदायत थी कि बिस्तर में लेटी रहूं, परन्तु मन किसी तरह न माना और मैं बम्बई से हवाई जहाज के द्वारा नई दिल्ली के लिए चल दी।

१९ जनवरी, को बड़े सवेरे जब सारा शहर कुहरे की चादर ओढ़े सोया पड़ा था, इन्दिरा दो देवस्थानों में गई। पहले वह राजघाट, जमना के किनारे गांधीजी की समाधि पर पहुंची। बापू की समाधि के समक्ष खड़े होकर उसने प्रार्थना की और आशीर्वाद मांगा। वहां से वह शान्ति-वन गई जहां जवाहर के पार्थिव शरीर का दाह-संस्कार किया गया था। आज मानो उसने उन दोनों महापुरुषों से भेंट करने का व्रत लिया था, जिन्होंने उसके जीवन और भविष्य का निर्माण किया था। अपने पिता की समाधि के आगे जब वह खड़ी हुई तो उसे उनके उस पत्र की याद हो आई जो उन्होंने उसके तेरहवें जन्मदिवस पर उसे लिखा था :

"तुम बहादुर बनो और बाकी चीज़ें तुम्हारे पास आप-ही-आप आती जायंगी। अगर तुम बहादुर हो तो तुम डरोगी नहीं; और कभी ऐसा काम न करोगी जिसके लिए दूसरों के सामने तुम्हें शर्म मालूम हो।...हमें सूरज को अपना दोस्त बनाना चाहिए और रोशनी में काम करना चाहिए। कोई

बात छिपाकर या आंख बचाकर नहीं करनी चाहिए।... इसलिए, प्यारी बेटी, अगर तुम इस कसौटी को सामने रखकर काम करती रहोगी तो प्रकाशमान बालिका बनोगी और चाहे जो घटनाए तुम्हारे सामने आयें तुम निर्भय और शान्त रहोगी और तुम्हारे चेहरे पर शिकन तक न आयेगी।"

इन्दिरा तीनमूर्ति-भवन भी गई। वहां जब अपने पिता के कमरे में गई (उसे बिलकुल उसी रूप में रखा गया था जैसा वह उनके जीवन-काल में था)। तो उसे राबर्ट फ्रास्ट की वह कविता याद आई जिसे उन्होंने अपने बिस्तर के करीब वाली मेज़ पर रखे 'पैड' पर लिख रखा था :

गहन वन-कान्तर, तरु सुन्दर, शीतल छाया,
पर मुझको तो प्रण पूरा करना,
और मीलों चलते जाना, सो जाने के पहले !*

प्रण पूरा करने को जब उसकी बारी आई तो आगे आने वाली कठिनाइयों का विचार कर मन आशंकित हुआ होगा, और राबर्ट फ्रास्ट की यह दूसरी कविता भी याद आई होगी :

राजा ने कहा अपने बेटे से, "बहुत हुआ यह !
राज्य है तुम्हारा, जो चाहे करो इसका,
जा रहा हूं आज रात। लो, उठाओ मुकुट !"
पर राजकुमार ने खींच लिया हाथ, समय रहते
उस पाने से बचने को, आश्वस्त न था जिनके बारे में।**

---

* The woods are lovely, dark and deep,
But I have promises to keep,
And miles to go before I sleep

** The king to his son : "Enough of this !
The Kingdom is yours to finish as you please,

मुझे संसद्-भवन को ले जाने के लिए इन्दिरा की मोटर हवाई अड्डे पर मेरा इन्तज़ार कर रही थी। मतदान संसद् के सेंट्रल हाल में हो रहा था और वहां बड़ी भीड़ थी। लोगों के बीच से रास्ता बनाती हुई मैं आगे बढ़ी, लेकिन अन्दर न गई; बाहर ही एक संगमरमर के खम्भे से टिक कर खड़ी हो गई जिससे मेरी दुखती पीठ को सहारा मिल सके। इन्दिरा ने मुझे देखा और बाहर आकर लिपट गई। उसने कहा, "फूफी, मैंने आने से मना किया था, फिर भी आप चली आईं। ऐसी चोट में तो आपको आराम करना चाहिए।" उसने मुझे कुर्सी दी और फिर सेंट्रल हाल में दौड़ी गई।

थोड़ी देर के बाद एक आदमी बाहर आया और उसने वहां खड़े संवाददाताओं और फोटोग्राफरों को अन्दर जाने के लिए कहा। फिर वह मुझे सहारा देकर अन्दर ले गया और वहां एक कुर्सी पर बिठा दिया।

अपराह्न तीन बजे के लगभग चुनाव अधिकारी ने मतगणना का नतीजा कामराज के हाथ में थमा दिया। कहां तो लोग ज़ोर-ज़ोर से बातें कर रहे थे और इधर-उधर मंडरा रहे थे और कहां एकदम इतनी शान्ति हो गई कि सुई गिरने की आवाज़ भी सुनाई दे जाती। कामराज की प्रसन्न मुस्कराहट ही कहे दे रही थी कि परिणाम उनकी इच्छा के अनुकूल हुआ है। उन्होंने तमिष में परिणाम की घोषणा की, जिसे वहां उपस्थित बहुत थोड़े लोग समझ पाए। फिर उसका अंग्रेज़ी अनुवाद किया गया। इन्दिरा को ३५५ और उसके विरोधी

I am getting out tonight. Here, take the crown."
But the prince drew away his hand in time
To avoid what he was not sure he wanted.

मोरारजी देसाई को सिर्फ १६९ मत मिले थे। इन्दिरा संसद् के कांग्रेसी दल की नेता चुन ली गई और अब वह सरकार बनाने के लिए सक्षम थी।

कामराज का स्वर लोगों के हर्षोल्लास में डूबकर रह गया। वह सदस्यों को चुप हो जाने के लिए कह रहे थे, जिस से इन्दिरा उनके और नन्दाजी के पास मंच पर आ सके। इन्दिरा संसद्-सदस्यों के साथ बहुत पीछे विनम्रतापूर्वक बैठी हुई थी। मोरारजी भाई अगली कतार में मंच के बिलकुल पास गुरु-गम्भीर और थोड़े विक्षुब्ध-से बैठे हुए थे।

इन्दिरा जैसे ही मंच की ओर बढ़ी, सदस्यगण अपने स्थानों से उठ-उठकर उसे बधाइयां देने के लिए दौड़ पड़े, यहां तक कि उसका आगे बढ़ना मुश्किल हो गया। बीसियों टेली-विज़न कैमरों की तेज़ रोशनी उस पर केन्द्रित हो गई। वह सफेद खद्दर की सादा साड़ी पहने हुए थी। जो भूरा काश्मीरी शाल उसने अपने कन्धों पर ले रखा था उसके एक कोने पर लाल गुलाब का फूल कढ़ा हुआ था। मोरारजी के पास पहुंची तो उसने दोनों हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया और बोली, "आशीर्वाद दीजिये, मोरारजी भाई, कि आगे आने वाली ज़िम्मेवारियों का भार उठा सकूं।"

बिना मुस्कराये वह बोले, "मैं तुम्हें अपने आशीर्वाद देता हूं।"

मंच पर पहुंचकर इन्दिरा ने इन शब्दों में सभासदों को सम्बोधित किया, "आपके सामने खड़े होने पर मुझे अपने महान् नेताओं का खयाल आ रहा है : महात्मा गांधी, जिनके चरणों में मैं बड़ी हुई; पंडितजी, जो मेरे पिता थे; और

लालबहादुर शास्त्री। इन नेताओं ने हमें जो रास्ता दिखाया, मैं उसी पर आगे चलना चाहती हूं।"

संसद्-भवन के बाहर कोई दस हजार की भीड़ जमा हो गई थी। यह भीड़ वहां चुनाव होने के पहले से ही थी और जब इन्दिरा संसद्-भवन आई थी तो उन लोगों ने बड़े हर्षोल्लास से उसका स्वागत किया था। उसके शाल के लाल गुलाब को देखकर उन्होंने उमंग-उमंग कर नारे लगाये थे : "लाल गुलाब ज़िन्दाबाद!" अब लोग संसद्-भवन के बाहर आने लगे तो किसी ने भीड़ में से चिल्ला कर पूछा, "लड़का है या लड़की?"

"लड़की!" जवाब पाकर भीड़ खुशी से झूम उठी और लोग उछल-उछल कर नारे लगाने और इन्दिरा का अभिवादन करने लगे, "जवाहरलाल नेहरू की जय!"

धक्कामुक्की करती हुई उस भीड़ में इन्दिरा के पास जाना मेरे बूते का नहीं था, इसलिए नान के साथ उन्हीं की मोटर में मैं उनके घर चली गई। वहां एक प्याला चाय और एक आमलेट जल्दी-जल्दी किसी तरह गले के नीचे उतार कर मैं इन्दिरा के मकान की ओर भागी। उसे गले लगाकर खूब स्नेह किया और तब हम दोनों बाहर लान में चली आईं, जहां अखबार वाले उसका इन्तज़ार कर रहे थे।

प्रधानमंत्री चुने जाने के कोई सात महीने पहले इन्दिरा ने दिल्ली के एक समाचार-पत्र में लेख लिखकर अपने पिता की नीतियों में विश्वास प्रकट किया था। उस समय उसे सपने में भी यह खयाल नहीं था कि वह अपने देश की प्रधान मंत्री बनने वाली है। उसके दिमाग में तो सभी भारतवासियों

के लिए एक विचार था, जिसे उसने लेख के माध्यम से व्यक्त किया था। विचार था कि एक प्रौढ़ राष्ट्र के निर्माण में देश-वासियों का अपना उत्तरदायित्व क्या है! लेकिन उसके वे शब्द देश के प्रधानमंत्री के रूप में उसी के अपने उद्देश्यों की भविष्यवाणी बन गए। १९६५ में, शास्त्रीजी के शासन-काल में, अपने देशवासियों को उसनें इन शब्दों में उद्बोधित किया था :

"साल-भर पहले वह (जवाहर)हमें छोड कर चले गए, लेकिन उनकी आत्मा आज भी हमारे साथ है और हमें प्रेरणा देनें, हमारे लड़खड़ाते कदमों को सहारा देने और देश की जनता तथा अपने-आप में हमारे विश्वास को दृढ़ करने के लिए सदा हमारे साथ रहेगी। तो आइये, हम अपने-आपको उनकी महान स्मृति के उपयुक्त बनाने में जान की बाज़ी लगा दें! और भारत को प्रगतिशील और प्रौढ़ राष्ट्र बनानें के उनके सपने को मूर्तरूप देने के भगीरथ कार्य में तन-मन से जुट जायं।"

२२ जनवरी, १९६६ को इन्दिरा गांधी ने भारत के प्रधानमंत्री पद की शपथ ग्रहण की।

२२

राजनैतिक सत्ता एक महिला के सिपुर्द

विश्व के सबसे बड़े गणतंत्र ने एक महिला को अपनी सरकार का प्रमुख चुना था। इससे पहले किसी भी बड़े देश ने किसी महिला को अपने राष्ट्र के इतने महत्त्वपूर्ण पद के लिए निर्वाचित नहीं किया था। एशिया के एक छोटे-से देश श्रीलंका ने अवश्य सिरीमात्रो भण्डारनायक को १९६० में अपने देश का प्रधानमंत्री चुना था। इनके पति, जो श्रीलंका के प्रधानमंत्री थे, की हत्या कर दी गई थी और इसलिए प्रधानमंत्री पद पर उनका चुना जाना भूतपूर्व मृत प्रधानमंत्री के प्रति उस देश की जनता के स्नेह और सम्मान का प्रतीक मात्र ही था। श्रीमती भण्डारनायक का अपना कोई राजनैतिक दर्जा नहीं था। लेकिन इन्दिरा का भारत में प्रधान मंत्री चुना जाना सम-सामयिक इतिहास की अपने ढंग की पहली घटना थी। और वह चुनी गई थी अपने प्रगतिशील आधुनिक दृष्टिकोण के कारण, अपनी जन-सेवाओं के कारण और राजनीति तथा राजकाज के अपने मूल्यवान अनुभवों के कारण!

बाहरी दुनिया के लोग तो यह सुनकर चकित ही रह गए कि पचास करोड़ की आबादी वाले राष्ट्र की शासन-सत्ता एक महिला को सौंपी गई है। सबसे अधिक आश्चर्य हुआ अमेरिका वालों को, क्योंकि वहां आज भी राष्ट्रपति पद के लिए किसी महिला के चुने जाने की कल्पना तक नहीं की जा सकती।

राष्ट्रपति जानसन के निमंत्रण पर इन्दिरा ने २७ मार्च, १९६६ को वाशिंगटन पहुंच कर अमरीका की राजकीय यात्रा प्रारम्भ की। राजकीय यात्रा पर आने वाले भारत के प्रधानमंत्री का महिला होना अमरीकी अखबारों के लिए अच्छा-खासा शिगूफा बन गया। कुछ समाचार-पत्र तो सरकारी दफ्तरों में पेटीकोट-गवर्नमेंट की भोंडी बातों तक उतर आये और उनके कुछ दूसरे भाई-बन्दों ने दून की हांकी कि इन्दिरा तो महज एक अलंकृति है, शोभा की सुन्दर वस्तु ! और कुछ ने कहा, अरे, यह पार्टी की गुटबन्दी को छिपाने की एक बढ़िया-सी ओट है, ओट ! संवाददाताओं ने तरह-तरह के सवालों की झड़ी लगा दी। क्या वह आदमी के करने का काम कर सकती है ? क्या वह नारीवाद (स्त्रियों के समता आदि अधिकार) की समर्थक है ? क्या वह मानती है कि महिलाओं के लिए राजनीति में ज्यादा बड़ी भूमिकाएं निभाने का मार्ग खुल गया ? उसनें जवाब में कहा, "मैं अपने को औरत नहीं, व्यक्ति समझती हूं, जिसे काम करना है।"

"मेरे प्रधानमंत्री बनने से भारत में किसी को आश्चर्य नहीं हुआ। वहां बरसों से महिलाएं स्वतंत्रता-संग्राम में, राजनीति में और सार्वजनिक जीवन में प्रमुख रूप से भाग

लेती आ रही हैं। हमारे यहां महिला इंजीनियर, महिला राज्यपाल, महिला राजदूत, महिला न्यायाधीश और राजनयिक एवं प्रशासकीय सेवाओं में भी कई महिलाएं ऊंचे पदों पर हैं। हमारे यहां की बहुत-सी ग्राम पंचायतों में महिला सदस्य हैं और कुछ में तो तमाम सदस्य महिलाएं ही हैं। महिलाओं को मानवीय उद्यम के हर क्षेत्र में काफी महत्वपूर्ण भूमिकाएं अदा करनी हैं। मेरी स्थिति से इस बुनियादी सचाई में न तो कोई वृद्धि होती है और न कोई कमी।"[1]

एक महिला किसी देश की प्रधानमंत्री बने, यह बात अमरीका वालों की समझ में चाहे न आ सके, भारतीयों के लिए सहज-साधारण-सी बात है। भारत की महिलाओं ने समान अधिकारों का आन्दोलन कभी नहीं छेड़ा, क्योंकि यहां नारी की पुरुष से समता अथवा श्रेष्ठता का कोई प्रश्न नहीं खड़ा होता। भारतीय धर्म, संस्कृति और परम्परा में नारी और पुरुष को हमेशा एक-दूसरे का पूरक माना गया है। इसलिए भारतीय नारी को पश्चिम का नारी-मुक्ति आन्दोलन बड़ा विचित्र लगता है और नारी की समता और स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने वाली युयुत्सु महिला आन्दोलनकर्त्री, पुरुष मात्र से घृणा करने वाली प्रतीत होती है।

पिछले पृष्ठों में, इस प्रसंग के सिलसिले में, भारतीय पुराणों में वर्णित अर्धनारीश्वर, विभिन्न देवियों और वीरांगनाओं आदि का उल्लेख किया जा चुका है। हमारे यहां तो शक्ति को शिव से भी बड़ा माना गया है। धन-सम्पन्नता तथा ज्ञान-विज्ञान की अधिष्ठात्री देवियां लक्ष्मी और सरस्वती ही हैं, और इनका दर्जा किसी भी देवता से नीचा

नहीं, ऊंचा ही है।

भारत में नारी पूजी जाती रही है। अजन्ता के कला-मण्डपों में (ईसा की तीसरी से पांचवीं शताब्दी) नारी के प्रति पुरुष का पूज्य भाव इतने शालीन ढंग से अंकित किया गया है कि उससे अभिभूत एक पाश्चात्य कला-समीक्षक ने कहीं लिखा है : "अजन्ता में अंकित निष्कपट और उदात्त नारी-पूजा की समता मुझे तो कहीं खोजे नहीं मिलती। नारी को न तो इस तरह कहीं पूर्ण रूप से समझा और न यहां के जैसा पूरा सम्मान ही दिया गया है।"

प्राचीन भारत में महिलाओं के लिए कोई भी कार्यक्षेत्र वर्जित नहीं था, यद्यपि उनकी कानूनी स्थिति कुछ कमजोर और गिरी हुई जरूर थी, मगर ऐसा तो पश्चिम में भी था : "प्राचीन भारत में औरतों का कानूनी दर्जा गिरा हुआ जरूर था, लेकिन आज की कसौटी से जांचा जाए तो पुरातन यूनान, रोम, आरम्भिक ईसाई मत वाले देश, और मध्ययुग के वल्कि और हाल के यानी उन्नीसवीं सदी के शुरू के यूरोप में उनका जैसा दर्जा था उससे हमारे यहां कहीं अच्छा था।"[१]

मध्य युग में अफगानों की भारत-विजय का प्रभाव पुराने और नये तौर-तरीकों के संश्लेषण के रूप में हुआ। जवाहर ने अहमदनगर किले की जेल में लिखी अपनी पुस्तक 'हिन्दुस्तान की कहानी' में उन सामाजिक परिवर्तनों का और खासतौर पर महिलाओं की स्थिति पर उनका जो प्रभाव पड़ा, उसके बारे में विस्तार से चर्चा की है :

"भारत में जो बुरी बात पैदा हुई, वह परदे के रिवाज़ का बढ़ना या औरतों का अलग एकान्त में रहना था।...

भारत में इससे पहले अमीर लोगों में स्त्री और पुरुष कुछ हद तक अलग-अलग जरूर रहते थे, जैसा कि और देशों में भी और खास तौर पर यूनान में था।...भारत में परदे का रिवाज़ मुग़लों के जमाने में बढ़ा जबकि इसे हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों ही में पद और इज्जत की निशानी समझा जाने लगा। परदे की यह प्रथा विशेष रूप से ऊंचे वर्ग के लोगों में उन सभी जगहों में तेजी से फैली जहां मुसलमानों का असर था—यानी बीच और पूरब के उस बड़े हिस्से में जो दिल्ली, संयुक्त प्रान्त, राजपूताना, बिहार और बंगाल से मिलकर बना है।

"इसमें मुझे ज़रा भी शक नहीं कि हाल की सदियों में भारत के ह्रास का एक खास और बड़ा कारण औरतों को परदे में रखने का रिवाज़ है। मुझे पूरा विश्वास है कि इस जंगली रिवाज़ का पूरी तरह खत्म होना हमारे मुल्क की सामाजिक जिन्दगी की तरक्की के लिए बहुत जरूरी है। यह तो उजागर ही है कि औरत को इससे नुकसान पहुंचता है, लेकिन जो नुकसान मर्द को पहुंचता है और उस बढ़ते हुए बच्चे को जिसे अपना ज्यादातर वक्त औरतों के साथ परदे में बिताना पड़ता है, वह उससे भी ज्यादा है। खुशी की बात है कि यह रिवाज़ हिन्दुओं में तेज़ी से और मुसलमानों में कुछ धीमी रफ्तार से उठता जा रहा है। परदे को हटाने में सबसे ज्यादा हाथ कांग्रेस के राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलनों का रहा है, जिनकी बदौलत मध्यम वर्ग की दसियों हज़ार औरतें किसी-न-किसी तरह की सार्वजनिक गतिविधियों की ओर झुकी हैं। गांधीजी परदा-प्रथा के कट्टर विरोधी रहे और

आज भी हैं और वे इसे 'दुष्ट और बर्बर रिवाज' कहते हैं, जिसने औरतों को पिछड़ा हुआ रखा और उन्नति नहीं करने दी।...गांधीजी ने इस बात पर बराबर ज़ोर दिया है कि औरतों को वही आज़ादी और अपनी उन्नति के वही मौके मिलने चाहिएं जो मर्दों को हासिल हैं।..."मर्दों और औरतों के आपसी सम्बन्धों में समझदारी होनी चाहिए। दोनों के बीच किसी तरह की दीवारें नहीं खड़ी की जानी चाहिएं। उनके आपसी व्यावहार में स्वाभाविकता और सहजता होनी चाहिए।" गांधीजी ने औरतों की बराबरी और आज़ादी की लिख और बोलकर ज़ोरदार वकालत की और उनकी घरेलू गुलामी की कड़ी-से-कड़ी निन्दा थी।"[२]

हमारी पुरानी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत संयुक्त परिवार-प्रणाली भारतीय महिलाओं पर, पर्दे के अलावा, एक दूसरा बोझ था। संयुक्त परिवार में एक व्यक्ति की अपनी कोई अलग हैसियत नहीं होती; वह पूरे परिवार के अधीन और गौण होता है। पारिवारिक सम्पत्ति में सभी सदस्यों का हिस्सा और सामूहिक अधिकार होता है। लेकिन शादी के बाद लड़की नये परिवार (अपने ससुराल) की सदस्य हो जाती है और पिता के परिवार की सम्पत्ति में उसका कोई हिस्सा नहीं रह जाता—उत्तराधिकार का हिन्दू कानून इसी प्रकार का था; और उसे अपने पति अथवा पुत्र पर निर्भर रहना पड़ता था।

बाल-विवाह भी (यह प्रथा मुसलमान आक्रमणकारियों की देन है, वे विवाह-योग्य लड़कियों को उठा ले जाते थे) भारतीय महिलाओं की प्रगति में बाधक और उन पर बोझ

था। इस विवाह की रस्म गौने के बपूगैरी नहीं होती, और गौना लड़की के वयस्क होने पर ही किया जाता है। अगर इस बीच लड़का मर जाए तो बेचारी लड़की को उम्र-भर के लिए रंडापा भोगना पड़ता था। सतीत्व नारी का श्रेष्ठ और सबसे आवश्यक गुण समझा जाता था और उससे स्खलन घोर अक्षम्य अपराध। लेकिन इस तरह का दृष्टिकोण न तो शास्त्र-सम्मत कहा जा सकता है और न धर्मानुकूल ही।

लेकिन पर्दा और बाल-विवाह की दूषित प्रथाओं के बावजूद भारतीय नारी का समाज में आदर था और उसे सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक गतिविधियों में भाग लेने की पूरी स्वतन्त्रता थी। गांधीजी के आह्वान पर हजारों की संख्या में भारतीय महिलाएं देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेने के लिए अपने घरों से निकल आईं। कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने १९३१ के अपने एक प्रस्ताव में महिलाओं के योगदान को स्वीकार करते हुए उनकी सराहना की है :

"भारत की महिलाओं ने मातृभूमि के संकट की घड़ी में चहारदीवारियों में से बाहर आकर, राष्ट्र के स्वतंत्रता-संग्राम के अग्रिम मोर्चे पर पुरुषवर्ग के कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर अपार साहस और अद्भुत सहनशीलता के साथ जिस तरह बलिदान किये और सफलताएं अर्जित करने में जिस तरह हाथ बंटाया, हम उसकी प्रशंसा करते हुए उनके प्रति सम्मान प्रकट करते हैं।"

भारत की अनेक इतिहास-प्रसिद्ध महिला विचारकों, दार्शनिकों, शासकों और योद्धा वीरांगनाओं के नाम गिनाये जा सकते हैं। रज़िया सुलताना ने बड़ी सूझ-बूझ और

कुशलता से दिल्ली की सल्तनत पर शासन किया; नूरजहां ने मुगल साम्राज्य की बागडोर संभाली; झांसी की रानी लक्ष्मीबाई ने १८५७ की स्वाधीनता की लड़ाई में अंग्रेज़ों से लोहा लिया और विश्वासघात के ही कारण वे पराजित हुईं। अंग्रेज इतिहासकार जेम्स मिल ने अपनी पुस्तक 'भारत का इतिहास' (हिस्ट्री आफ इंडिया) में इस तथ्य का उल्लेख किया है कि उस समय के भारत के सुशासित राज्यों में से कुछ की शासक महिलाएं थीं।

स्वतन्त्रता ने उस विदेशी शासन को हटा दिया जो भारतीय समाज की प्रगति को अवरुद्ध किये हुए था। भारतीय संविधान स्त्री और पुरुष को समान अधिकार देता है और बालिग मताधिकार के द्वारा वे उस उचित स्थान को ग्रहण कर रही हैं, जिसे राष्ट्रीय संघर्ष में अपने बलिदानों से उन्होंने अर्जित किया है। सड़ा-पुराना हिन्दू कानून बदल दिया गया और स्त्रियों को भी पुरुषों के ही समान उत्तराधिकार का हक़ प्रदान किया गया। हमारा संविधान लिंग के आधार पर नागरिकों में कोई भेदभाव नहीं करता।

हाल के इतिहास में भी भारत में कई ख्यातनामा महिलाएं हुईं। कवयित्री सरोजिनी नायडू १९२५ में कांग्रेसाध्यक्ष बनीं; स्वतंत्रता के बाद वे उत्तरप्रदेश की राज्यपाल भी रहीं। मेरी बहिन विजयालक्ष्मी पंडित (नान) विश्व की पहली महिला राजदूत थीं। वे मास्को और वाशिंगटन में भारत की राजदूत तथा इंग्लिस्तान में उच्चायुक्त रहीं; और १९५३ में संयुक्त राष्ट्र-संघ की महासभा के अध्यक्ष पद पर चुनी गईं। राजकुमारी अमृतकौर भारत सरकार की स्वास्थ्य-मंत्री थीं;

एक दूसरी महिला डा० सुशीला नायर उनकी उत्तराधिकारिणी बनीं।

१९६६ में उनसठ महिलाएं संसद् की सदस्य थीं (अमेरिकी कांग्रेस में सिर्फ १२ महिला-सदस्य थीं), और सत्रह राज्यों की विधान-सभाओं में तो कई महिला विधायक थीं। सुचेता कृपलानी भारत के सबसे बड़े राज्य (उत्तरप्रदेश) की मुख्य मंत्री थीं।

इसलिए यदि एक महिला भारत की प्रधानमंत्री बनी तो वह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी और न होनी चाहिए। ठेठ बचपन से राजनीति के साथ घनिष्ठ सम्पर्क होने के कारण इन्दिरा सार्वजनिक नेता के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी और इसीलिए देश ने उसे अपनी समस्याओं के निराकरण का भार सौंपा था।

प्रधानमंत्री के रूप में अपने कार्यकाल के दूसरे वर्ष की समाप्ति पर इन्दिरा से पूछा गया था कि महिला होना राजनीति में बाधक है या सहायक? उसका जवाब था :

"मैं तो नहीं सोचती कि मेरे स्त्री होने से कोई फर्क पड़ता है। यह सवाल लोगों को खानों में रखने की कोशिश के सिवाय और कुछ नहीं है। अगर आप कहें कि यह काम सिर्फ पुरुष के करने का है और यह भी कि पुरुष में कुछ ऐसे गुण और योग्यताएं होती हैं जो स्त्री में नहीं होतीं तो सवाल उठता है कि आखिर वे गुण क्या हैं? शारीरिक शक्ति? नहीं, अगर आप कमज़ोरियां देखने लगेंगे तो वे आपको सभी में मिलेंगी। एक व्यक्ति का, जो राज्य का प्रमुख है, इस तरह सोचना कि वह पुरुष है या स्त्री है या धर्म, जाति अथवा

लिंग के किसी एक समूह में से है, तो मेरी राय में सही नहीं है। अगर जनता ने आपको राष्ट्र का नेता चुना है तो उतना काफी होना चाहिए, क्योंकि असल बात वही है।"[3]

२३

देश में संकट की स्थिति

•

संयुक्त राज्य अमेरिका के लोग इन्दिरा के सौन्दर्य पर मोहित हो गये थे। वाशिंगटन पहुंचने के समय वह जिस नारंगी रंग की साड़ी को पहने हुए थी, वह अमेरिकनों को खूब पसन्द आई और उसकी बहुत तारीफ की गई। सार्वजनिक समारोहों का विवरण देते समय संवाददाता उसकी पोशाक का विस्तार से वर्णन करना कभी न भूलते। जितने भी दिन वह अमेरिका में रही, वहां के अखबारों ने उसकी गतिविधियों को प्रथम पृष्ठ पर महत्त्वपूर्ण समाचारों के रूप में प्रकाशित किया। उसकी रेडियो-वार्ताएं और टेलीविजन-मुलाकातें बड़ी उमंग से सुनी और देखीं गईं।

मार्च महीने की चमकीली धूप परन्तु साथ ही ठण्डे और तेज़ हवाओं वाले एक सवेरे राष्ट्रपति जानसन एवं उनकी पत्नी ने इन्दिरा का, जो वरजीनिया प्रदेश के विलियम्सवर्ग देहात में रात बिताकर हेलीकोप्टर से सीधे वहीं चली आ रही थी, व्हाइट हाउस के लान पर स्वागत किया। श्रीमती जानसन ने उसे अमेरिकी ब्यूटी गुलाबों का गुलदस्ता भेंट

किया। बैण्डबाजे पर भारतीय राष्ट्र-गान की और अमेरिकी राष्ट्रगीत की धुनें बजाई गईं।

विशिष्ट अतिथियों के सम्बन्ध में, जैसाकि रिवाज़ है, स्वयं राष्ट्रपति जानसन और सेना के एक जनरल इन्दिरा को सम्मान-गारद के निरीक्षण के लिए ले गए। अपने दोनों लम्बे अनुरक्षकों के बीच वह बहुत ही छोटी और नाज़ुक लग रही थी। राष्ट्रपति ने अमरीका में उसका स्वागत करते हुए जो भाषण दिया, इन्दिरा ने उसका वाग्मितापूर्ण प्रत्युत्तर दिया।

उसके बाद शेष औपचारिक काम सम्पन्न होते रहे। अंतिम समारोह था हमारे चचेरे भाई बी० के० नेहरू (जिन्हें हम लोग बिज्जू कहते हैं) और उनकी पत्नी फोरी द्वारा दिया गया भोज। उन दिनों वह अमरीका में भारत के राजदूत थे। उपराष्ट्रपति हम्फ्री और उनकी पत्नी उस भोज में सम्मानित अतिथियों के रूप में आमंत्रित थे।

भोज के कुछ ही पहले राष्ट्रपति जानसन बिलकुल अप्रत्याशित रूप से वहां आ गए, इसलिए सारा इन्तज़ाम ही गड़बड़ा गया। यात्रा पर आये हुए किसी भी देश के राज्य-प्रमुख का प्रत्यामंत्रण स्वीकार करने का उनका नियम न था; लेकिन इन्दिरा से वे इतने प्रभावित हुए कि उससे पुनः मिलने और वार्तालाप करने का मोह संवरण न कर सके।

मैं वहां थोड़ा जल्दी ही पहुंच गई थी। जाकर देखा तो पूरा मकान गुप्तचर विभाग के लोगों से भरा हुआ था। बिज्जू और फोरी ने मुझे राष्ट्रपति से मिलाया। इन्दिरा सिन्दूरी रंग की साड़ी पहने उनके पास बैठी थी। इधर भोज का समय

हो गया, मगर उनकी बातें थीं कि खत्म ही नहीं हो पा रही थीं। मेज़बान आकुल-व्याकुल और ऊपर से यह चिन्ता सवार कि मेहमान लोग मकान के अन्दर आयंगे कैसे, क्योंकि सारा रास्ता तो राष्ट्रपति और उनके सुरक्षा-अधिकारियों की मोटरों ने छेक रखा था। अन्त में फोरी ने राष्ट्रपति से भोजन के लिए रुक जाने का अनुरोध किया। उन्होंने पहले तो यह कह-कर आपत्ति की कि दावत की पोशाक नहीं पहने हैं, काम-काज के इन कपड़ों से शरीक होना अवसर के उपयुक्त न होगा, मगर फिर राज़ी हो गए। उन्होंने अपनी पुत्री लूसी को घर जाने और साथ में इन्दिरा के दोनों पुत्रों को भी ले जाने के लिए कह दिया। लूसी जानसन को उस शाम कहीं जाना था। वह दोनों बच्चों को ब्लेयर हाउस छोड़ती गई। इस बीच फोरी की खूब कसरत हो गई। मेज़ पर बैठने के तमाम कार्डों का सिलसिला उसे नये सिरे से जमाना पड़ा।

राष्ट्रपति के आदेश से जब रास्ते पर से उनकी और सीक्रेट सर्विस वालों की तमाम मोटरें हटा ली गई तो मेहमान लोग अन्दर आने लगे—आभूषणों से सज्जित भड़कीले पेरि-शियन गाउन धारण किये महिलाएं और काली टाइयां बांधे भद्र लोग। उन्होंने राष्ट्रपति को कामकाजी लिवास में देखा तो वे एकदम भौचक ही रह गए। खाने की मेज़ पर भी उन्होंने इन्दिरा को किसी और से बात करने का मौका नहीं दिया। उसके सम्मान का जाम पीते समय उन्होंने बहुत बढ़िया भाषण दिया। बोले, "मैं भी क्या आदमी हूं! आया था बातें करने, बैठ गया खाना खाने!" इन्दिरा ने भी उतना ही सुन्दर जवाब दिया।

दूसरे दिन राष्ट्रपति के विमान द्वारा इन्दिरा और मैं न्यूयार्क गईं। वहां न्यूयार्क के इकानामिक क्लब की ओर से आठ सौ अतिथियों का विशाल भोज था, जहां इन्दिरा अपने भाषण में, बिना पूर्व तैयारी के जो समय पर सूझ गया, बोली। कुछ तो उसके आकर्षक व्यक्तित्व और बहुत-कुछ भारत की नीति और आदर्शों को बड़े ही स्पष्ट ढंग से प्रस्तुत करने की उसकी प्रतिभा के कारण श्रोताओं को भाषण बहुत पसन्द आया और उन्होंने बार-बार हर्षध्वनि की।

राष्ट्रपति जानसन से इन्दिरा की बातचीत के फलस्वरूप भारत-अमरीकी सम्बन्धों में काफी सुधार हुआ। उसने गरीबी के कारण भारतीय जनता के कष्ट, अनावृष्टि के कारण फसलों का मारा जाना और कृषि-उत्पादन को बढ़ाने के लिए किये जा रहे प्रयत्नों और प्राथमिकताओं के बारे में उन्हें विस्तार से बताया। खाद्यान्नों की कमी का मुकाबला करने के लिए उसने सहायता में वृद्धि करने की इच्छा व्यक्त की। राष्ट्रपति ने १९६६ के लिए ५० करोड़ डालर की अतिरिक्त सहायता का वचन दिया। (सितम्बर १९६४ से सितम्बर १९६६ तक के दो वर्षों में अमेरिका ने १·१ अरब डालर मूल्य से भी अधिक का खाद्यान्न भारत को भेजा था।)

इन्दिरा का अमरीकी-यात्रा पर 'वाशिंगटन पोस्ट' के स्तम्भ-लेखक विलियम व्हाइट ने, जिसे भारत का मित्र तो कदापि नहीं कहा जा सकता, लिखा था :

"जानसन-प्रशासन में राज्य-प्रमुखों के अभी तक के किसी भी सम्मेलन में इतने अधिक लोगों के लिए इतनी ज्यादा बात सम्पादित न हो सकी जो श्रीमती इन्दिरा गांधी के साथ

राष्ट्रपति की वार्ता से हुई ।...संक्षेप में यह कि वह भारत की आधुनिक विचारों की मताग्रह-विहीन नेता हैं और बने रहना चाहती हैं—बेशक हमारी जेब में नहीं, परन्तु हमारे गलों पर भी नहीं ।"[1] और 'टाइम' पत्र ने यह टिप्पणी की थी :

"श्रीमती गांधी की यात्रा का परिणाम मुख्य रूप से अमेरिका और भारत के बीच पारस्परिक समझ और सद्भाव बढाने वाली नई मनःस्थिति के रूप में हुआ है । सप्ताह-भर की अपनी वार्ताओं के मध्य दोनों इस निर्णय पर पहुंचे कि दोनों का लक्ष्य लगभग एक ही है और एक-दूसरे से अधिक अपेक्षाएं किये बिना काफी काम किया जा सकता है । श्रीमती इन्दिरा गांधी ने, जैसाकि राष्ट्रपति ने उनके बारे में कहा कि उन्होंने अपने-आपको 'बहुत स्वाभिमानी, बहुत शालीन और बहुत योग्य महिला' ही नहीं सिद्ध किया बल्कि "वे बिलकुल अपने ही ढंग की दृढ़ निश्चय वाली, घोर स्वाधीनचेता शासक भी हैं ।"

वाशिंगटन से इन्दिरा, वायुमार्ग से, लन्दन और पेरिस और तब मास्को गईं और वहां उसने कोसीजिन और ब्रेजनेव से भेंट और चर्चा की । इस यात्रा से लौटकर भारत आई तो यहां की मुसीबतें उसका रास्ता ही देख रही थीं । खाद्यान्न की समस्या सर्वोपरि हो गई थी । उत्तरप्रदेश और बिहार के काफी बड़े हिस्सों में अकाल और भुखमरी फैली हुई थी । १९६५ में खाद्यान्नों की देशव्यापी उपज १ करोड़ ५० लाख टन कम हुई थी । संग्रह और वितरण का उचित प्रबन्ध न होने से समस्या और भी उग्र हो गई थी । सुदूर दक्षिण के केरल प्रदेश में अन्न के अभाव में दंगे हो गए और दूसरी तरफ आन्ध्रप्रदेश जैसे राज्य थे जो अपना अतिरिक्त चावल कमी

वाले राज्यों को देने के लिए कतई तैयार नहीं थे।

इन्दिरा स्वयं कृषि-उद्योग का कायाकल्प करने के काम में जुट गई। उसने सघन खेती, उर्वरकों के व्यापक उपयोग और अनाज के व्यापार की विधियों को उन्नत करने के तरीकों का पता लगाने के लिए अध्ययन-दल नियुक्त किये। भारत के कृषि-विशेषज्ञों को कृषि-उत्पादन बढ़ाने एवं अनाज की किस्मों को सुधारने की योजनाएं बनाने के लिए कहा गया। अमेरिका ने अपने यहां से विशेषज्ञों को सलाह देने के लिए भेजा। उद्योग-धन्धों के विकास की मुख्य समस्या थी प्रबन्ध-कौशल की कमी; इसके लिए देश के प्रमुख युवा व्यवसायियों को नई दिल्ली बुलाकर भारतीय तकनीक को उन्नत करने के लिए आवश्यक नीतियां निर्धारित करने का काम सौंपा गया।

भाषाओं की विविधता और भाषावार प्रान्त बनाने की मांग को लेकर भी काफी बड़े पैमाने पर दंगे हो रहे थे। संसदीय समिति ने, जिसके सदस्यों में इन्दिरा भी थी, अलग से पंजाबी-भाषी राज्य बनाने की मांग को मंजूरी दी। हिन्दुओं ने इसके खिलाफ प्रदर्शन किया और उपद्रव की आग दिल्ली में भी फैल गई। हिन्दुओं की एक भीड़ ने चांदनी चौक के गुरुद्वारे को घेर लिया और उसे लूटने तथा तोड़-फोड़ करने पर आमादा हो गए। गुरुद्वारे के सिख पहरेदारों ने कृपाणें खींच लीं और निहत्थी भीड़ पर पिल पड़े। आखिर सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा; उपद्रवों को दबाने के लिए पुलिस भेजी गई। इन्दिरा स्वयं गुरुद्वारे के क्षेत्र में गई। वहां एक भाषण में उसने उपद्रवियों को खूब फटकारा। उसने कहा :

"मेरी आंखों में आंसू नहीं, मेरे दिल में गुस्सा है। स्वतं-

त्रता की लड़ाई लड़ने वाले सैकड़ों-हजारों वीरों ने क्या इसी फूट और अराजकता के लिए इतनी सारी कुर्बानियां दी हैं?"

भारत के धुर उत्तरी कोने में एक नई तरह का ही बखेड़ा उठ खड़ा हुआ था। भारत, पाकिस्तान और बर्मा के सीमान्त-प्रदेश में रहने वाले नागा और मिज़ो लोग अपने स्वायत्त राज्य की मांग करने लगे। जिस क्षेत्र में वे रहते थे वह दुर्गम पहाड़ी क्षेत्र था। पाकिस्तान ने उन्हें हथियार दिये और छापा-मार लड़ाई में प्रशिक्षित कर दिया। विद्रोही आतंकवादी कार्रवाइयों में जुट गए—ट्रेनों को उड़ाना, पुलों को तोड़ना और इस तरह असम का शेष भारत से सम्बन्ध-विच्छेद करना उनका मुख्य लक्ष्य था।

इन्दिरा ने वायुसेना को विद्रोही बस्तियों पर बम बरसाकर विद्रोह को कुचलने के आदेश दिये। राज्यपाल से चर्चा कर समझौते का हल खोजने के लिए वह स्वयं असम गई और परिणामस्वरूप विद्रोहियों के प्रतिनिधियों को चर्चा के लिए आमंत्रित किया गया। परन्तु पाकिस्तान और चीन द्वारा उकसाते रहने के कारण समझौता न हो सका।

कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति और सिंडीकेट के कुछ सदस्यों ने जनवरी में इन्दिरा की उम्मीदवारी का इस खयाल से समर्थन किया था कि वह उनकी राजनैतिक महत्वा-कांक्षाओं के अनुकूल रहेगी; लेकिन शीघ्र ही उन्हें पता चल गया कि यह तो अपने ही मन की करती है; न किसी की सुनती है और न किसीसे सलाह लेती है। असल में इन्दिरा ने अपने-आपको अखिल भारतीय स्तर के राष्ट्रीय नेता के रूप में स्थापित करने का फैसला कर लिया था। पार्टी पर

उसकी पकड़ मजबूत नहीं थी, इसलिए जनता में अपनी साख बढ़ाकर लोकप्रिय होते जाना ही उसके आगे एकमात्र रास्ता था। लेकिन जवाहर की तरह निर्विरोध नेतृत्व की मंज़िल अभी उससे बहुत दूर थी।

इधर पार्टी बराबर उसके रास्ते में अड़ंगे डालती रही, उधर सभी नये-पुराने दल कांग्रेस पार्टी को बदनाम करने की कोशिश में जुट गए।

मई १९६६ में कांग्रेस पार्टी-मीटिंग में सदस्यों ने उसकी खाद्यनीति की कड़ी आलोचना की। उनका कहना था कि वह संकट के हल के लिए अनाज के आयात पर बहुत ज्यादा निर्भर करती है। कुछ ने यह राय ज़ाहिर की कि विदेशी सहायता राष्ट्र के स्वावलम्बी होने की इच्छा का दमन करती है। सबने मिलकर उसपर यह आरोप लगाया कि वह पूरी तरह अमेरिका की अनुगामिनी हो गई है। यह नारा दिया गया कि बहुत बड़े पैमाने पर विदेशी सहायता लेने के बजाय हमें आत्मनिर्भर होना चाहिए।

इन्दिरा पर इसलिए भी प्रहार किया गया कि उसने शिक्षा के लिए भारत-अमरीकी प्रतिष्ठान (इण्डो-अमेरिकन फाउण्डेशन) का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था। सदस्यों का यह आरोप था कि इस तरह का प्रतिष्ठान छद्मरूप से अमरीकी गुप्तचरी (सेंट्रल इंटेलिजेन्स एजेन्सी) का अड्डा बन जायगा। लेकिन जब उसपर अपने पिता की गुटों में शरीक न होने की नीति छोड़ने का आरोप लगाया गया तो वह ज़ब्त न कर सकी और लगी अपने आलोचकों को आड़े हाथों लेने। उसने कहा कि लोगों को मालूम होना चाहिए कि मेरे पिता

की विदेश-नीति परिस्थितियों के अनुसार लचकीली हुआ करती थी और अन्त में उसने सभी आलोचकों को लताड़ दिया :

"अगर आप लोगों को मेरा तरीका पसन्द नहीं है तो अपना नया नेता चुन लीजिये। मुझे हटा दीजिये!"

एकदम सन्नाटा छा गया। इस चुनौती को स्वीकार करने की आलोचकों की हिम्मत न हुई। अखबारों ने उसके इस आचरण की खूब सराहना की। उन्होंने इसे 'नेहरू-चरित्र के प्रत्यावर्तन' की संज्ञा दी।

जून में जब भारतीय रुपए के ३६ प्रतिशत अवमूल्यन की घोषणा हुई तो इन्दिरा की नीतियों की चतुर्दिक् आलोचना होने लगी। राजा और मैं उस समय अमेरिका में थे और हमने वहीं रेडियो पर यह खबर सुनी। हमें यह बात मालूम थी कि विश्व बैंक बरसों से भारतीय मुद्रा के अवमूल्यन पर जोर देता आ रहा था और भारत के सभी वित्त-मंत्री बराबर इस दबाव का विरोध करते रहे थे। राजा विक्षुब्ध हो गए और उन्होंने बिज्जू नेहरू को वाशिंगटन फोन मिलाया। बिज्जू ने बताया कि उन्होंने अभी-अभी इन्दिराजी को इस साहसपूर्ण निर्णय के लिए बधाई का तार भेजा है। उन्होंने कहा कि समस्या तो यह है कि "अवमूल्यन नहीं तो सहायता भी नहीं।" राजा का तर्क था कि जिस भारत के कुल निर्यात का ८० प्रतिशत कच्चा माल होता है वह ज्यादा विदेशी मुद्रा कमाने और अपने व्यापार-सन्तुलन को सुधारने के लिए निर्यात की मात्रा को बढ़ा नहीं सकता।

हिन्दुस्तान में इस घोषणा से तहलका ही मच गया।

कांग्रेस-अध्यक्ष और अन्य नेताओं ने इन्दिरा की सार्वजनिक रूप से और खुलकर आलोचना की। लेकिन इन्दिरा ने जो भी किया था, खूब सोच-समझकर और उपयुक्त परामर्श के बाद ही किया था।

अगले साल निन्दकों को उसपर प्रहार करने के और भी कारण मिल गए। इस बार भी वर्षा कम हुई, जिससे अन्न का उत्पादन और घटा और परिणामस्वरूप चारों ओर उपद्रव शुरू हो गए। अनियंत्रित मुद्रास्फीति और उसके कारण निर्वाह-खर्च में लगातार वृद्धि होते जाने के खिलाफ हड़ताले और उग्र प्रदर्शन होने लगे। आर्थिक विकास के सारे कार्य-क्रम ठप्प हो गए। छात्रों के आन्दोलन रोज़मर्रा की बात हो गए। विरोधी दल इधर तो जनता को कानून तोड़ने के लिए उकसाते और उधर पुलिस-ज्यादतियों के खिलाफ अदा-लती जांच की मांग करने लगते। कम्यूनिस्टों से लेकर घोर दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियावादियों तक सभी का एक ही उद्देश्य था—जैसे भी हो कांग्रेस को इतना बदनाम कर दो कि १९६७ के आम चुनावों में वह जीत ही न सके। और इस सबके मुकाबले कांग्रेस पार्टी की बैठकों में तू-तू मैं-मैं और आपसी उठा-पटक के सिवाय और कुछ नहीं होता था। प्रशासन पर से लोगों का विश्वास उठ चला था। लेकिन इन्दिरा ने फिर भी हिम्मत न हारी और जनता में अपने विश्वास को बनाये रखा। देश के हित को ही वह सर्वोपरि स्थान देती रही।

अनाज की कमी, निम्न वेतन और असन्तोषजनक जीवन-स्तर आदि के खिलाफ कल-कारखाने के मजदूरों तथा सर-कारी कर्मचारियों की हड़तालें बराबर ज़ोर पकड़ती गई।

जो उद्योग-संचालक या कारखाना-मालिक 'वन्द' को माननें से इनकार करते, उनके खिलाफ हिंसक प्रदर्शन होने लगते।

भारत में शिक्षा का स्तर बरसों से गिरता चला आ रहा था। अशान्ति के उस युग में विद्यार्थी शुल्क घटाने, परीक्षाओं के स्तर को गिराने और औसत से कम अंक प्राप्त करने वालों को भी डिग्रियां देने की मांग करने लगे। विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में ऐसे छात्रों की भीड़ बढ़ने लगी जिनका लक्ष्य शिक्षा प्राप्त करना नहीं, नौकरियों के लिए सिर्फ प्रमाण-पत्र हासिल करना था। शिक्षक-विद्यार्थी-सम्पर्क तो जैसे नाम को भी नहीं रह गया था।

भारत की जन-संख्या में निरन्तर वृद्धि के कारण अनाज के आयात को बढ़ाते जाना और जारी रखना आवश्यक था। अवमूल्यन के कारण आयातित विदेशी अनाज के लागत-दाम बढ़ जाने से उसका बिक्री-मूल्य भी बढ़ाना पड़ा, जिससे लोगों के असन्तोष में और भी वृद्धि हुई। भारत में आबादी बढ़ने का कारण (ईसाई समाज की तरह भारतीय जनता में निरोध के कृत्रिम उपायों के प्रति धार्मिक आपत्ति अथवा पूर्वाग्रह नहीं है) परिवार-नियोजन के उपायों की विफलता नहीं, चिकित्सा-सुविधाओं का विस्तार और उन्नति ही थी। सरकार की स्वास्थ्य-सेवा परियोजनाओं और उन्नत चिकित्सा-सुविधाओं के परिणामस्वरूप वयस्क और बालमृत्यु-दरों में बहुत कमी हो गई। भारतीयों की सामान्य आयु-मर्यादा सत्ताईस वर्ष से बढ़ कर पैंतालीस वर्ष हो गई।

भारत की सबसे विकट समस्या २३ करोड़ बेकार गायों को रखना और खिलाना था। आर्यों के आदिम समाज में

दूध देने वाली गाय पूजनीय और उसका गोठ मन्दिर होता था। शायद इसीलिए कालान्तर में पुरातन हिन्दू समाज में गाय पवित्र और रक्षित मानी जाने लगी। किसी भी कृषि-प्रधान देश की अर्थव्यवस्था में दुधारू पशुओं का स्थान आवश्यक और महत्त्वपूर्ण होता है। लेकिन बेकार 'पूज्य और पवित्र' गायों को खिलाना लाखों भूखे परिवारों के मुंह का कौर छीनना ही है।

जनसंघ ने हिन्दू भावनाओं को उभारने के लिए गौ-वध पर प्रतिबन्ध लगाने का आन्दोलन छेड़ दिया। आन्दोलनकारियों का उद्देश्य केन्द्रीय सरकार को मुसीबत में डालना और बदनाम करना था, इसलिए उन्होंने जान-बूझकर गौवध पर प्रतिबंध लगाने की मांग राज्य-सरकारों के सामने नहीं रखी, क्योंकि कृषि-सम्बन्धी कानून बनाने का अधिकार केवल उन्हीं को था। जनसंघ ने यह मांग केन्द्रीय सरकार से की और इसके लिए दिल्ली में प्रदर्शन करने की योजना बनाई।

संसद्-भवन के सामने, जहां कि लोकसभा का अधिवेशन हो रहा था, प्रदर्शन करने के लिए जनसंघ हजारों की संख्या में साधुओं को दिल्ली लाया। दुर्भाग्य से उस समय के गृह-मंत्री गुलज़ारीलाल नन्दा की साधुओं में परम भक्ति और श्रद्धा थी। उन्होंने साधुओं के अखिल भारतीय संगठन साधु-समाज का अध्यक्ष बनना भी स्वीकार कर लिया था। उनका दृढ़ विश्वास था कि चराचर की खैर मनाने वाले साधु कोई ऐसा काम नहीं कर सकते जिससे शान्ति भंग हो, और इसलिए उन्होंने उन लोगों के उग्र प्रदर्शन की रोक-थाम के लिए कोई भी कदम उठाना आवश्यक नहीं समझा।

७ नवम्बर को चीखते-चिल्लाते और नारे लगाते हुए कुछ अधनगे साधुओं की भीड़ ने, जो त्रिशूल, फरसे और छुरे लिये हुए थी, मोटरों को जलाना, सरकारी इमारतों में आग लगाना और राह-चलते लोगों पर घातक हमले करना शुरू कर दिया। कुछ उन्मत्त उपद्रवी कांग्रेस-अध्यक्ष कामराज के मकान पर चढ़ दौड़े और वे बड़ी मुश्किल से अपनी जान बचा पाये। एक मंत्री के बंगले में आग लगा दी। अब कहीं जाकर नन्दाजी चेते और पुलिस को बुलाया; लेकिन इतनी देर हो चुकी थी कि मूल्यवान् सरकारी सम्पत्ति और अभिलेखों के विनाश को वह भी न रोक सकी।

इन्दिरा ने, जो बिहार के सूखाग्रस्त इलाकों का दौरा करके लौटी ही थी, लोकसभा में कहा, "यह हमला सरकार पर नहीं, हमारी जिन्दगी के तरीके पर सीधी चोट है।" उसने सदन को आश्वासन दिया कि भविष्य में इस तरह की हिंसा का सख्ती से दमन किया जायगा। कांग्रेस पार्टी ने गृह-मंत्री को हटाने की मांग की। पार्टी के पुरातनपंथी इन्दिरा पर हावी होने का मौका एक अर्से से देख ही रहे थे; उन्हें अच्छा अवसर मिल गया, फौरन मंत्रिमंडल में परिवर्तन करने की मांग पेश कर दी। इन्दिरा स्वयं भी कुछ मंत्रियों को हटाना चाहती थी जिन्हें प्रधानमंत्री बनते समय उसपर थोप दिया गया था, लेकिन उसे इसमें आंशिक सफलता ही मिली। नन्दाजी की जगह चव्हाण को दे दी गई, लेकिन जिन दो और मंत्रियों को वह हटाना चाहती थी, उन्हें हटा न सकी।

इस समय कांग्रेस के अन्दर इन्दिरा के प्रति सदस्यों के विश्वास की मात्रा निरन्तर कम होती जा रही थी। यहां तक

कहा जाने लगा था कि पार्टी उससे अपना समर्थन वापस ले लेगी। "वह अच्छी जरूर है, मगर उससे काम चलेगा नहीं," एक संसद्-सदस्य का कहना था। और बताया जाता है कि कामराज ने कहा था, "बड़े बाप की बेटी, छोटे आदमी की बड़ी भूल हो गई।" छोटे आदमी से उनका अभिप्राय अपने-आप से था, क्योंकि उन्होंने इन्दिरा का पूरी तरह समर्थन किया था। समाचारपत्रों ने भी प्रतिकूल टिप्पणियां लिखीं। साधुओं की हिंसक कार्रवाइयों से क्षुब्ध होकर 'इण्डियन एक्सप्रेस' के सम्पादक फ्रैंक मोरेस ने लिखा था, "इतनी देर हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहने का नतीजा आखिर अनर्थकारी ही होना था।"

कम्युनिस्टों से प्रेरित और प्रभावित होकर सारे देश के विद्यार्थियों ने १८ नवम्बर को संसद् पर मोर्चा ले जाने की योजना बनाई। इस बार ज़रूर कोई उपद्रव नहीं हुआ और सारा काम शान्ति से निपट गया, क्योंकि नये गृहमंत्री चव्हाण ने किसी भी संभावित खतरे का मुकाबला करने के लिए पुलिस और सेना का पहले से ही उचित प्रबन्ध कर दिया था।

जब साधुओं वाली चाल सफल न हुई तो जनसंघ ने दूसरे तरीके अपनाये। गौवध पर प्रतिबन्ध लगाने का कानून बनाने के लिए सरकार पर दबाव डालने के इरादे से उसने पुरी के जगद्गुरु शंकराचार्य को आमरण अनशन करने के लिए दिल्ली बुलाया। हिन्दुओं के चार प्रसिद्ध, पवित्र और मान्य पीठों में से एक के अधिष्ठाता का अनशन शुरू होते ही दर्शनार्थियों का तांता लग गया। इस आशंका से कि कहीं उपद्रव न हो जाय, सरकार को उन्हें गिरफ्तार कर पांडीचेरी भेज देना पड़ा, जहां उन्हें सरकारी अतिथि के रूप में रखा गया। अन्त में

अपने अनुयायियों के आग्रह पर उन्होंने अनशन तोड़ दिया। इन हथकण्डों से जनसंघ को लाभ के बजाय हानि ही हुई; भले लोगों में उनके मतदाताओं की संख्या कम हो गई।

सूखे के कारण अकाल की समस्या सर्वोपरि थी। अमेरिका से आवश्यक मात्रा में अनाज नहीं आ रहा था; कारण शायद यह था कि इन्दिरा उत्तरी वियतनाम पर अमेरिकी बमबारी रोकने की बात निरन्तर कहे जा रही थी। उसने आस्ट्रेलिया, कनाडा और फ्रान्स से गेहूं खरीदने की बात चलाई। देश में उसने सभी दलों से अनुरोध किया कि लोगों को भुखमरी से बचाने के काम में वे सरकार से सहयोग करें।

१९६६ का साल भारत के आर्थिक और राजनैतिक विकास की दृष्टि से निश्चय ही बड़े संकट का साल था। इन्दिरा बराबर भारतीय अर्थ-व्यवस्था की उन्नति के उपाय खोजती और उन्हें वेग देती रही। उसके आलोचकों की कमी नहीं थी; लेकिन कोई लाख आलोचना और विरोध करे, आखिर तो वह नेहरू थी और सामान्य जन पर उसकी बात का असर पड़ता ही था। सारी कांग्रेस पार्टी में मतदाताओं को उसकी तरह प्रभावित करके मत प्राप्त कराने वाला दूसरा कोई नेता नहीं था।

२४

१९६७ के आम चुनाव

अपने पिता की ही तरह इन्दिरा का विश्वास आर्थिक और सामाजिक सुधारों के लिए समाजवाद के क्रमागत रूप पर ही नहीं, मुक्त उद्यम पर भी है। उसकी नीतियां अखिल भारतीय कांग्रेस के उद्देश्य 'संसदीय लोकतंत्र पर आधारित समाजवादी राज्य' से पूरी तरह मेल खाती हैं। यह स्थिति आज ही नहीं, १९६६ में भी थी। लेकिन फिर भी अप्रैल १९६६ में कृष्ण मेनन ने "अपने पिता की नीतियों से खतरे की सीमा तक दूर चले जाने" का आरोप लगाकर उसकी कड़ी आलोचना की थी।

देश में से गरीबी मिटाने के लिए इन्दिरा गांधीजी के बताये हुए रास्ते पर चलना पसन्द करती थी, विदेशी मामलों में जवाहर की स्वतंत्रता और किसी गुट में शरीक न होने की नीति को बनाये रखने की वह कोशिश करती रहती थी। १९६६ के अक्तूबर महीने में नई दिल्ली में युगोस्लाविया के राष्ट्रपति टीटो और संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति नासिर से इन्दिरा ने चर्चा की और तीनों ने एक संयुक्त

वक्तव्य के द्वारा उत्तरी वियतनाम पर अमेरिकी बमबारी को बिना शर्त और तत्काल बन्द कर देने की बात कही। इस वक्तव्य से और इन्दिरा बमबारी की पहले जो निन्दा कर चुकी थी उससे, भारत-अमेरिकी सम्बन्धों में काफी तनाव आगया। अमेरिका ने भारत को अन्न की सहायता देना तो जरूर बन्द नहीं किया, परन्तु उसमें देर और अड़ंगेबाजी होने लगी।

कुल मिलाकर १९६६ का पूरा साल भारत के लिए दुर्भाग्यपूर्ण ही रहा। हमारे राष्ट्र को बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। एक बार फिर सूखा पड़ गया; अनाज की कमी के कारण उपद्रव हुए, खास तौर पर केरल और पश्चिमी बंगाल में, और साल का अन्त होते-होते बिहार, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश में भी; विद्यार्थियों के उग्र प्रदर्शन और उनके द्वारा सार्वजनिक सम्पत्ति का विनाश; संसद्-भवन के प्रवेश-द्वार पर साधुओं के हिंसक दंगे का घृणित काण्ड; मद्रास, पंजाब और नई दिल्ली में भाषा के प्रश्न पर हिंसक उपद्रव; कृषि-उत्पादन में कमी; औद्योगिक मन्दी और आर्थिक विकास का गत्यवरोध; विदेशी मुद्रा की संचित निधि का चिन्तनीय रूप से कम होते जाना; एक ऐसी नयी और अव्यावहारिक पंचवर्षीय योजना का बनाया जाना जो अपने निर्धारित लक्ष्यों को कभी पूरा कर ही नहीं सकती; रुपये के अवमूल्यन का (२१ सेंट से १३.३ सेंट) प्रबल विरोध; मुद्रा-स्फीति और उपभोक्ता वस्तुओं के मूल्यों में भारी वृद्धि; और इस सबके ऊपर असम के नागा और मिज़ो पर्वतीय क्षेत्रों के कबाइलियों का विद्रोह।

कुछ मामलों में भारत की स्थिति दूसरे देशों से मिलती-

जुलती थी। इन्दिरा ने समानताओं का उल्लेख करते हुए कहा था, "आज दुनिया का ऐसा कौन-सा देश है जहां अशान्ति और अन्दरूनी झगड़े नहीं हैं? क्या अमेरिका में जातीय (काले-गोरों के वर्णभेद सम्बन्धी) दंगे, विद्यार्थियों के प्रदर्शन और हिंसात्मक कार्रवाइयां नहीं होतीं? क्या जापान में छात्रों के दंगे नहीं हो रहे? क्या ब्रिटेन बीटनिकों एवं मज़दूरों की हड़तालों से त्रस्त नहीं है? हम अपने विकास की ऐसी संक्रमणावस्था में पहुंच गये हैं जहां अवसाद और कुढ़न से निकलने के लिए ज़ोरदार प्रयत्न करना ही होगा।"

लेकिन भारत के राजनैतिक नेताओं का इस तरह के प्रयत्न की ओर कोई ध्यान नहीं था। कांग्रेस पार्टी के जिन असन्तुष्ट सदस्यों ने आशा लगा रखी थी कि इन्दिरा स्वयं कोई निर्णय नहीं कर पायेगी और हमेशा उनकी मांग के आगे झुकती चली जायगी, उन्हें देश की विपत्तियों और कठिनाइयों के रूप में अच्छा-खासा हथियार मिल गया। लेकिन इन्दिरा किसी की भी परवाह किये बिना देश का आधुनिकीकरण करने की अपनी राह पर दृढ़तापूर्वक बढ़ती चली जा रही थी। कांग्रेस पार्टी में उसके अपने अनुयायियों की संख्या नगण्य होने से पार्टी नेताओं के साथ सम्बन्ध बनाये रखने में उसे जरूर कठिनाई होती थी। फिर उसके कट्टर समालोचकों की भी कमी नहीं थी, जो सलाहकारों को चुनने के उसके अधिकार को भी बराबर चुनौती देते रहते थे। व्यापक भ्रष्टाचार और भाई-भतीजावाद की दलदल में फंसकर देश की अर्थव्यवस्था की गति एकदम अवरुद्ध हो गई थी, लेकिन पार्टी के सदस्यों को सिर्फ निजी लाभ, अपनी व्यक्तिगत

सत्ता और अकेले अपनी तरक्की की पड़ी थी, देश की तरक्की से उन्हें कोई मतलब नहीं था। मार्च १९६७ में होने वाले आम चुनावों के लिए उम्मीदवारों के चयन के सवाल पर वे आपस में झगड़ते और सौदेबाजी करते रहे। असन्तुष्ट और नाराज़ गुटों की कमी न केन्द्र में थी और न राज्यों में। ये लोग पुराने खुर्राट और घोर अनुदार विचारों के थे; और सिर्फ ऐसे ही उम्मीदवारों को पार्टी का टिकट देना चाहते थे जो उनकी मुट्ठी में रहें और जीहजूरी करें।

कांग्रेस पार्टी बीस बरस तक देश पर शासन कर चुकी थी। हाल के बरसों में उसके अखण्ड राज्य और सत्ता की उसकी अन्धी दौड़ के खिलाफ असंतोष फैलने लगा था। प्रशासन पूरी तरह भ्रष्ट हो चुका था। मंत्रिगण एवं उच्च पदाधिकारियों, व्यापारियों और उद्योगपतियों के सरकारी काम करने के एवज़ में उनके प्रतिष्ठानों में अपने बेटों या रिश्तेदारों के लिए ऊंची नौकरियों की मांग करने लगे थे। सारे भारत में गहरा असन्तोष फैला हुआ था। इस असन्तोष के कारण नई-नई राजनैतिक पार्टियों की लहर ही आ गई।

विरोधी दलों को मनचाहा अवसर मिल गया। कांग्रेस को पछाड़ने और सत्ता हथियाने के अपने मनसूबों को वे धूम-धड़ाके के साथ ज़ाहिर करने लगे। इन दलों में उग्रतम वामपक्षी कम्युनिस्टों से लेकर घोर प्रतिक्रियावादी दक्षिणपन्थी तक सभी सम्मिलित थे। कम्युनिस्टों का एक फिरका मास्कोपरस्त और दूसरा चीनपरस्त था। सोशलिस्ट भी अलग-अलग दो गुटों में बंटे हुए थे।

दक्षिणपन्थी दल भी दो थे, लेकिन दोनों के उद्देश्यों में

बड़ा अन्तर था। जनसंघ हिन्दू प्रतिक्रियावादियों की दक़ियानूसी पार्टी थी; ७ नवम्बर को नई दिल्ली में साधुओं का उपद्रव इसी ने कराया था। स्वतन्त्र दल मुख्यत: बड़े-बड़े व्यवसायियों और उद्योगपतियों के हितों का प्रतिनिधित्व करता था; पश्चिमी शक्तियों के साथ मैत्री का समर्थक होने के कारण इसे अमेरिका में थोड़ी मान्यता मिली हुई थी।

स्वतन्त्र दल की स्थापना १९५९ में च० राजगोपालाचारी (राजाजी) ने की थी, जो कभी कांग्रेस के नेता थे और बाद में मद्रास राज्य के मुख्य मंत्री भी रहे। वे अपने पुराने साथियों के कटु आलोचक हो गए थे। (अब वे सौ बरस के आस-पास हैं। भारत में, दुर्भाग्य की बात है कि बहुत बूढ़ा हो जाने पर भी कोई राजनीति से निवृत्त होना नहीं चाहता।) स्वतंत्र दल के सदस्यों में पुराने जमाने के उच्चपदस्थ सरकारी कर्मचारी भी हैं जो देश की स्वतंत्रता के पहले अंग्रेज़ों से सहयोग करते रहे और अपने कथित 'अनुभव' के कारण सिर्फ इसलिए बहाल रहे कि प्रशासकीय स्थिरता को बनाये रखें। सेवा-निवृत्ति के बाद वे विदेशी व्यवसायियों के 'बिचौलिये' बन गए। जिस कांग्रेस ने उनपर इतनी कृपा की थी उसी की जड़ खोदने के लिए वे दल बांधकर राजनीति में घुस आए। ये लोग 'नये देशभक्त' थे।

पुरानी रियासतों के राजे-रजवाड़े भी स्वतंत्र दल में शरीक हो गए। वे कांग्रेस से इसलिए नाराज़ थे कि स्वतंत्रता के बाद उन्हें अपनी रियासतों की कुल आय का केवल कुछ ही प्रतिशत दिया जाता था, जब कि पहले पूरी आय वसूल कर वे स्वयं रख लिया करते थे। अपने-अपने क्षेत्र के मतदाताओं

पर उनका बड़ा प्रभाव था, क्योंकि भारत में अब भी राजाओं को 'पृथ्वीपति', 'प्रजा का पिता और पालनहार' और 'अन्नदाता' समझा जाता था, जिसकी हर आज्ञा का पालन करना प्रजाजन का परम कर्त्तव्य था।

इक्की-दुक्की पार्टियां और भी थीं। द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम (द्रमुक या डी०एम०के०) का कार्य और प्रभाव-क्षेत्र दक्षिण में सिर्फ मद्रास राज्य तक सीमित था। यह द्रविड़ों के लिए एक अलग स्वायत्तशासी राज्य चाहता था। इसकी एक मांग यह भी थी कि हिन्दुस्तानी को भारत की राष्ट्रभाषा न बनाया जाय। राजाजी ने इस मांग का समर्थन किया, यद्यपि मदरास के स्कूलों में हिन्दी पढ़ाने की व्यवस्था स्वयं उन्होंने करवाई थी। द्रमुक की दूसरी मांग यह थी कि अंग्रेज़ी को राज्यों के बीच सम्पर्क की भाषा के रूप में रहने दिया जाय; उनकी यह मांग स्पष्ट ही संविधान के विपरीत थी।

फरवरी १९६७ में लोकसभा एवं राज्य-विधानसभाओं के आम चुनाव ने दिखा दिया कि अब देश की जनता को किसी पार्टी के बारे में कोई भ्रान्ति नहीं रही और उसका मोह भंग हो गया है। विरोधी दलों के पास न तो संगठनात्मक शक्ति थी और न मतदाताओं को आकर्षित करनेवाली नीतियां ही। इसलिए वे गुण्डागिरी पर उतर आए और कांग्रेस की सभाओं को तोड़ने और मार-पीटकर आतंक जमाने लगे। जगह-जगह कांग्रेसी मंत्रियों को पीटा या घायल किया गया और उनके वाहनों को या तो जलाया, तोड़ा गया या उलट दिया गया।

इन्दिरा के ओजस्वी चुनाव-अभियान ने लोगों के इस भ्रम का कि वह इतनी सुकोमल है, कि देश के प्रधानमंत्री पद

का भार उठा नहीं सकती, पूरी तरह निवारण कर दिया। अपने देशव्यापी तूफानी चुनाव-दौरे में जनता से सीधा सम्पर्क करने के लिए वह गांवों, नगरों, कस्बों या दूर-दराज जन-वस्तियों में जहां भी गई, लाखों की संख्या में लोग उसका भाषण सुनने के लिए इकट्ठा हुए और अपने प्रेम एवं श्रद्धा से उसे आश्वस्त किया।

उड़ीसा की राजधानी भुवनेश्वर में, जहां स्वतंत्र दल वालों को वहुमत से जीतने की पूरी आशा थी, इन्दिरा एक ऐसी सभा में भाषण करने पहुंची जिसे नियंत्रण में रखना संयोजकों के वस के वाहर हो गया था। वह अभी वोल ही रही थी कि उद्दण्ड लोगों ने पथराव शुरू कर दिया। ईंट का एक गुम्मा इन्दिरा की नाक पर आकर लगा और खून वहने लगा। सुरक्षा-अधिकारी उसे मंच से हटा ले जाना चाहते थे। स्थानीय कांग्रेसी कार्यकर्ता अनुरोध करने लगे कि वह मंच के पिछले हिस्से में जाकर बैठ जायं। मगर इन्दिरा ने किसीकी न सुनी। वह रक्तरंजित नाक को रूमाल से दवाये निडरता-पूर्वक क्रुद्ध भीड़ के सामने खड़ी रही। उपद्रवकारियों को फटकारते हुए उसने कहा : "यह मेरा अपमान नहीं है, देश का अपमान है, क्योंकि प्रधानमंत्री के नाते मैं इस देश का प्रतिनिधित्व करती हूं।" इस घटना से सारे देश को गहरा आघात लगा। सव दलों को, सार्वजनिक रूप से ही सही, इस काण्ड की निन्दा करनी पड़ी। विरोधी दल घाटे में ही रहे, उन्हें अपने वहुत मतों से हाथ धोना पड़ा।

वहां से इन्दिरा कम्युनिस्टों के गढ़ कलकत्ता आई और अपने श्रोताओं को कम्युनिस्टों का असली परिचय देते हुए

कांग्रेस को वोट देने के लिए कहा। उसने मतदाताओं को याद दिलाया कि ये वही कम्युनिस्ट हैं जिन्होंने १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का विरोध किया था और १९६२ में जब चीन ने हमारे देश पर आक्रमण किया तो शत्रु के गीत गा रहे थे।

दिल्ली लौटने पर पता चला कि उसकी नाक की शल्य-चिकित्सा करनी होगी। सदा की तरह मुझे बड़ी चिन्ता हुई। जब वह अस्पताल से घर लौट आई तो मैंने बम्बई से ट्रंक पर कुशल-समाचार पूछे। उसने मज़ाकिया अन्दाज़ में गम्भीरता से कहा : "मैं खुद भी बहुत परेशान हूं। होश में आते ही मैंने डाक्टर से पूछा कि प्लास्टिक सर्जरी करके मेरी नाक को सुन्दर तो बना दिया है न? आप तो जानती ही हैं कि मेरी नाक कितनी लम्बी है; उसे खूबसूरत बनाने का एक मौका अनायास ही हाथ लग गया था, लेकिन कम्बख्त डाक्टरों ने कुछ न किया और मैं वैसी-की-वैसी रह गई!"

उड़ीसा वाले काण्ड के कुछ पहले इन्दिरा जयपुर की एक विशाल सभा में भाषण कर रही थी। सहसा एक कोने में जनसंघ के समर्थकों का छोटा-सा दल शोर मचाने और गौ-वध को बन्द करने के नारे लगाने लगा। सभा में विघ्न डालने की उनकी कार्रवाहियां बढ़ती गईं। आख़िर इन्दिरा को गुस्सा आ गया। गौवध-बन्दी का कानून बनाने से उसकी सरकार पहले ही इन्कार कर चुकी थी। ऊधमबाज़ों के शोरगुल को अपनी बुलन्द आवाज़ से दबाते हुए उसने लताड़ सुनाई :

"मैं इस तरह की हरकतों से दबने और डरने वाली नहीं हूं। मुझे मालूम है कि इन बेहूदगियों के पीछे किन लोग का

हाथ है, और लोगों को अपनी बात किस तरह सुनानी चाहिए यह भी मैं खूब जानती हूं। आज मुझे असलियत बतानी ही होगी। इन नारों से आप लोग अपने पिछले इतिहास को बदल नहीं सकते। जब देश पर विदेशियों की हुकूमत थी उस समय जनसंघ के समर्थक क्या कर रहे थे? कहां थे वे लोग? जाकर पूछिये अपने महाराजा और महारानी से कि जब जनता की गाढ़ी कमाई पर ऐश कर रहे थे तो उन्होंने अपनी प्रजा के लिए कितने कुएं खुदवाये और कितनी सडकें बनवाईं? जब वे आपके राजा थे उस समय के उनके प्रजाहित के कामों को देखें तो सिर्फ एक बड़ा सिफर ही देखने को मिलेगा।"

वह एक घण्टे तक धाराप्रवाह बोलती रही। ऊधमियों का गुल-गपाड़ा फिर न सुनाई दिया। सभी ने अन्त तक उसकी बात शान्ति से सुनी।

इन्दिरा ने विधान-सभा के कांग्रेसी उम्मीदवारों के लिए भी देशव्यापी दौरा किया। पहली बार अपने ही चुनाव में अपने निर्वाचन-क्षेत्र की जनता के पास वोट के लिए उसे जाना पड़ा। फूलपुर (जवाहर के निर्वाचन-क्षेत्र) के मतदाता तो यही चाहते थे कि वह उनके क्षेत्र से खड़ी हो, लेकिन उसने फ़ीरोज़ के चुनाव-क्षेत्र रायबरेली से लड़ने का फैसला किया।

फरवरी के चुनाव-परिणामों ने यह स्पष्ट कर दिया कि कांग्रेसी नेताओं को अपने आपसी झगड़ों और हीन कोटि की राजनैतिक तिकड़मों का भारी मूल्य चुकाना पड़ा है। देश की जनता में कांग्रेस पार्टी के प्रति सम्मान की भावना तो अब भी थी, लेकिन प्राप्त मतों ने सिद्ध कर दिया कि विश्वास निरन्तर कम होता जा रहा है। लोकसभा में अब भी कांग्रेस

सबसे बड़ी और बहुमत वाली पार्टी थी लेकिन उसके बहुमत का अनुपात ७० प्रतिशत से गिरकर सिर्फ ५५ प्रतिशत रह गया था। सिंडीकेट के जिन नेताओं ने कांग्रेस दल और इन्दिरा पर हावी होना चाहा था वे सब-के-सब हार गए थे। सबसे करारी और उल्लेखनीय हार हुई थी कांग्रेस के अध्यक्ष कामराज की; उन्हें उन्हीं के घर में एक अज्ञात विद्यार्थी ने मात दी थी।

लोकसभा में विरोधी दलों की सदस्य-संख्या में वृद्धि हुई। जिन सत्रह राज्यों में चुनाव हुए, उनमें से नौ में कांग्रेस को बहुमत प्राप्त न हो सका; शेष आठ राज्यों में कांग्रेस ने बहुमत तो बनाये रखा, लेकिन बहुत थोड़े अनुपात में। फिर भी मद्रास और केरल को छोड़कर शेष सभी राज्यों में अब भी कांग्रेस ही सबसे बड़ी पार्टी के रूप में विधान-सभाओं में पहुंची थी। इन दो राज्यों, मद्रास और केरल, के सिवा कहीं भी किसी अकेले विरोधी दल को इतने ज्यादा स्थान नहीं मिले थे कि वह अपनी सरकार बना पाता। परिणाम यह हुआ कि कई राज्यों में विभिन्न प्रकार के गठबन्धन वाली (जैसे कि कम्यूनिस्ट और जनसंघ) संयुक्त सरकारें बनीं। केरल और पश्चिम बंगाल की सरकारों में कम्युनिस्टों की प्रधानता थी। मद्रास में द्रमुक मुख्य पार्टी थी; उड़ीसा में स्वतन्त्र दल वालों की प्रमुखता रही। बिहार और पंजाब में भी मिली-जुली सरकारें बनीं।

इन्दिरा प्रबल बहुमत से विजयी होकर अब अखिल भारतीय नेता के रूप में प्रतिष्ठित हो गई थी। मोरारजी देसाई भी काफी बड़े बहुमत से जीते थे। जब राज्यों और केन्द्रीय सरकार के भावी सम्बन्धों पर मैंने चिन्ता प्रकट की तो इन्दिरा

ने बड़ा ही सारगर्भित उत्तर दिया

"मुझे अपने लोकतन्त्र पर गर्व है। यदि जनता कांग्रेसी उम्मीदवार के बदले किसी और को चुनना चाहती है तो बेशक ऐसा ही करे। जिस प्रकार प्रधानमन्त्री को चुनने का अधिकार उसे है, ठीक उसी प्रकार अपनी पसन्द के उम्मीदवारों को चुनने का अधिकार भी उसी जनता को है।"

२५

विकराल समस्याओं से सामना

•

जैसे ही चुनाव-परिणाम घोषित हुए, कामराज, पाटिल ग्रौर दूसरे सभी नेता कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ग्रौर संसदीय बोर्ड की बैठक के लिए दिल्ली दौड़ ग्राये। जहां तक संसदीय दल का प्रश्न था, इन्दिरा का प्रधानमंत्री चुना जाना निश्चित था, लेकिन मोरारजी देसाई १९६६ में उसके खिलाफ खड़े हो चुके थे ग्रौर इस वार फिर नेतापद का चुनाव लड़ने की तैयारियों में लगे थे। चुनाव में जो क्षति उठानी पड़ी थी, उसे देखते हुए तथा कांग्रेस की एकता ग्रौर देश में पहले वाली स्थिति ग्रौर सम्मान ग्रर्जित करने के लिए भी, यह बहुत ग्रावश्यक था कि पार्टी-नेता का चुनाव सर्वसम्मति से हो। संसद् में बहुमत के बावजूद शक्ति क्षीण हो जाने के कारण ग्रान्तरिक संघर्ष को टालना बहुत ज़रूरी हो गया था; वर्ना सरकार कमजोर हो जाती ग्रौर कांग्रेसी राज के ग्रस्तित्व के ही लिए खतरा पैदा हो जाता। इन्दिरा हृदय से चाहती थी कि नेता का चुनाव सर्वसम्मति से हो, लेकिन चुनाव लड़ना ही पड़ जाय तो वह उसके लिए भी तैयार थी। वैसे

मोरारजी देसाई अनुशासन को मानने वाले बड़े ही निष्ठावान् पार्टी-सदस्य थे, परन्तु नये मंत्रिमंडल में महत्त्वपूर्ण पद पाये बिना पार्टी-नेतृत्व का अपना दावा छोड़ने को भी तैयार न थे। उधर इन्दिरा भी अपने मंत्रिमंडल के सदस्यों को चुनने का अपना अधिकार अबाधित रखना चाहती थी। इस काम में उसे किसी का हस्तक्षेप किसी भी रूप में स्वीकार नहीं था। और इस तरह दोनों में नेता पद के लिए संघर्ष अवश्यम्भावी होता दिखाई देने लगा।

लेकिन ऐन वक्त पर समझौते की सूरत निकल ही आई। १२ मार्च को इन्दिरा को सर्वसम्मति से प्रधानमंत्री चुना गया और मोरारजी देसाई उप-प्रधानमंत्री बने।

नेता के निर्विरोध चुने जाने का कारण भी साफ था—इन्दिरा के जैसा राज-काज का अनुभव, जनता पर प्रभाव और प्रखर व्यक्तित्व दूसरे किसी उम्मीदवार में नहीं था। बहुत पहले, १९६४ में ही, नान ने (जो बहुत वर्ष बहुत से देशों में भारत की राजदूत रह चुकी थीं) कहा था: "इन्दिरा का अभ्युदय केवल उसकी योग्यता और उसके द्वारा किये हुए कामों का परिणाम है। ... आज वह जिस पद पर पहुंची है उसके वह सर्वथा उपयुक्त ही है।"[1] इन्दिरा के सम्बन्ध में नान का यह वक्तव्य १९६७ में भी उतना ही सही और सार्थक था।

इन्दिरा ने अपना मंत्रिमंडल बनाया। कुछ पुराने मंत्रियों को उसने रहने दिया और कुछ नवयुवकों को भी लिया। ९ मई को उसी के प्रभाव से डा० ज़ाकिर हुसैन भारत के राष्ट्रपति चुने गए।

१९६६ की कुछ समस्याएं अभी तक देश के सामने बनी हुई थीं। काश्मीर के सवाल पर पाकिस्तान से झगड़ा अपनी जगह कायम था; कांग्रेसी नेताओं के प्रति जनता का रोष और असन्तोष पहले से कुछ बढ़ा ही था; अनाज की कमी, भाषा का सवाल और मज़हबी मामलों को लेकर हिंसक उपद्रव और दंगे होते ही जा रहे थे; विदेश-नीति की आलोचना में कोई कमी नहीं हुई थी; विदेशी सहायता के स्थान पर स्वावलम्बन का नारा ज़ोर पकड़ता जा रहा था; अप्रैल १९६६ की पंचवर्षीय योजना लागू नहीं की जा सकी थी; मुद्रा-स्फीति के साथ निर्वाह-खर्च में लगातार वृद्धि हो रही थी; और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की बाढ़ पहले की ही तरह अवरुद्ध थी। इसके साथ राज्यों की नवनिर्मित संयुक्त सरकारों का अड़ियलपन की सीमा तक कड़ा रुख और केन्द्रीय तथा प्रादेशिक नेताओं की विरोधी कार्रवाइयां अलग ही सिरदर्द बनती जा रही थीं।

ऊपर से कुछ नये संकट और पैदा हो गए थे। सूखाग्रस्त बिहार में पीने के पानी और पशुओं के घास-चारे का अभाव हो गया; भुखमरी तो थी ही, प्यासे मरने की नौबत आ गई। एक प्रत्यक्षदर्शी के अनुसार, "प्यास भूख से कहीं ज्यादा अधःपतित करने वाली होती है।" इन्दिरा ने लोगों से अपील की कि उन्हें स्वावलम्बन की दिशा में अधिकाधिक प्रयत्न करने चाहिए; सरकारी सहायता का रास्ता देखते रहने के बजाय अपनी मदद आप करने में लग जाना चाहिए। उसने विदेशी सरकारों से भी सहायता की मांग की; और इस तरह लाखों लोगों के प्राण बचा लिये गए।

सितम्बर में चीन से तिब्बती सीमान्त को लेकर अनबन हो गई। सीमावर्ती प्रदेश में चीनी और भारतीय सैनिकों की मुठभेड़ों की खबरों ने देश में तहलका मचा दिया। प्रदर्शनकारियों के नई दिल्ली में चीनी दूतावास और पेकिंग में भारतीय दूतावास पर दंगे हुए।

जून में मध्यपूर्व में लड़ाई छिड़ गई और इन्दिरा की अरब-समर्थक नीति की देश और विदेश सर्वत्र खूब आलोचना हुई। मुझे ऐसा लगता है कि आलोचकों ने भारत के राष्ट्रीय हितों पर कोई ध्यान नहीं दिया। इन्दिरा का दृष्टिकोण धर्म, जाति अथवा राष्ट्रीयता पर आधारित नहीं था। यहूदियों पर किये गए अमानुषिक अत्याचारों से वह बहुत अच्छी तरह परिचित थी और दूसरे महायुद्ध के समय यूरोप में स्वयं अपनी आंखों उनकी दुरवस्था को देख चुकी थी। अरब लोगों को उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के हाथों जो भोगना पड़ा, उसकी जानकारी भी उसे थी। साथ ही वह इस तथ्य से भी अभिज्ञ थी कि यहूदी और अरब ऐतिहासिक दृष्टि से एक ही हैं और सदियों से दोनों पड़ौसियों की तरह रहते आये हैं। इन्दिरा ने जवाहर की नीति का ही अनुसरण किया—किसी गुट में शरीक न होने की नीति, परन्तु तटस्थता नहीं। भारत हमेशा हर मामले का गुण-दोष के आधार पर, अपने राष्ट्रीय हित को दृष्टि में रखते हुए, समर्थन अथवा विरोध का फैसला करता है; और हमारे हित हमारे उदार नैतिक मूल्यों द्वारा परिचालित हैं।

हमारे यहूदी-विरोधी होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। हमारे देश में कई धर्मों को मानने वाले अल्पसंख्यक रहते हैं,

इसलिए एक स्थायी लोकतंत्र के रूप में हमारा अस्तित्व तो धर्म-निरपेक्षता—हमारी अपनी और आस-पास के हमारे पड़ौसियों की भी—पर ही अवलम्बित है। हमारे पश्चिमी और पूर्वी (बंगलादेश बनने के बाद नहीं) सीमान्तों पर धार्मिक असहिष्णुता की शक्तियां मुस्लिम राष्ट्रों को हमारे विरुद्ध एकताबद्ध कर देने का अवसर खोजती ही रहती हैं। इसलिए धर्मनिरपेक्षता के हामियों का समर्थन करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

जुलाई में बादल पानी लाये, अच्छी वर्षा हुई और उनके साथ बढ़िया फसल की आशा बंधी। हमारी सूखी-प्यासी धरती हरे खेतों का परिधान ओढ़कर मुस्कराने लगी।

इस बीच सत्तालोलुप नेता और कार्यकर्ता कई राज्यों की विधान-सभाओं में आये-दिन दल-बदल करने लगे जिससे मंत्री बनने के उनके सपने पूरे हो सकें। परिणामस्वरूप नये-नये मंत्रिमंडल बनने, बिगड़ने और फिर बनने लगे। प्रशासकीय अस्थिरता से आर्थिक पुनरुत्थान के सारे काम ठप्प हो गए; और सत्ताशाली दलों के ही द्वारा हड़तालें और 'बन्द' कराने से सारे देश में घोर निराशा फैल गई।

इधर केन्द्र में राष्ट्रीय विकास के कार्यक्रमों को चालू किया गया। इन्दिरा के मार्गदर्शन में, देश को अन्न के मामले में आत्मनिर्भर बनाने की योजनाओं पर तेज़ी से काम शुरू हुआ। कृषि के विकास के लिए बजट में अधिक धन की व्यवस्था की गई। काफी मात्रा में उर्वरक वितरित किये गए और किसानों को उनका सही उपयोग करने की विधियां समझाई गई। अमेरिका ने 'शान्ति के लिए अन्न' नामक

योजना के अन्तर्गत अनाज भेजा और भारतीयों को कृषि एवं हाट-व्यवस्था विपणन की उन्नत तकनीक सिखाने के लिए तकनीकी सहायता दल भी वहां से आये। कृषि की तकनीकी उन्नति को प्राथमिकता दी गई। अधिक फसल देने वाली किस्में विकसित की गई और इन नई किस्मों की पैदावार ने उत्पादन के पिछले सभी रिकार्ड मात कर दिये। अन्न को कमी दूर होने के साथ-साथ आर्थिक विकास की आशाएं भी बंधने लगीं।

इन्दिरा के सामने और भी कई काम थे—नेताओं के आपसी झगड़ों और सरकार के कामों में अनावश्यक हस्तक्षेप अथवा प्रशासकीय कर्त्तव्यों की नितान्त उपेक्षा के कारण कांग्रेस की खोयी हुई साख को फिर से कायम करना; केन्द्रीय और राज्य-सरकारों के पारस्परिक सम्बन्धों को सुधार कर मधुर बनाना; जनता में आत्मविश्वास की भावना पैदा करना। और ऐसे कामों में समय तो लगता ही है।

इन्दिरा-प्रशासन के शुरू के चौदह महीनों को कार्यवाहक या अभिरक्षक (केयर-टेकर) सरकार की संज्ञा दी जाती है, क्योंकि वह आम चुनाव के द्वारा पदारूढ़ नहीं हुई थी। १९६७ के आम चुनाव के द्वारा जनता ने पार्टी के पुराने नेताओं को रद्द कर अपना समर्थन इन्दिरा को दिया था। उसकी स्थिति दृढ़ और अधिकार पक्के हो गए। अपनी नीतियों को निर्धारित तथा कार्यान्वित करने के लिए अब उसके पास पूरे पांच साल का समय था।

इन्दिरा का खयाल है कि भारत और भारतीय जनता को विश्व के राष्ट्रों में अपना उपयुक्त स्थान बनाने में अभी कई बरस लगेंगे। स्वयं उसी के शब्दों में : "अगले दस या

वारह वरस तो केवल मंजिल की शुरुआत के रूप में होंगे। परन्तु उसके वाद के दस-वीस वरसों की अवधि में हम आशा और प्रार्थना करते हैं कि भारत पूरी तरह आत्म-निर्भर राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित हो जायगा।"[२]

२६

'भारत को उसी स्वर्ग में करो जागरित'

•

इन्दिरा व्यक्ति के रूप में कैसी है ? वह माता कैसी है ? क्या वह, भारत को जिस तरह का प्रधानमन्त्री चाहिए, वन सकेगी ? उसके वारे में वहुत लिखा जा चुका है, फिर भी ये सवाल मुझसे आज भी पूछे जाते हैं। मेरे लिए इन सवालों का जवाव देना मुश्किल ही है, क्योंकि छुटपन से उसे देखती और उसकी देखभाल करती रही हूं, और एक लड़की के रूप में उसके बारे में जो सोचा और आशाएं की थीं, मुझे तो वह ठीक वैसी ही लगती है। वास्तव में मैं उसे इतना अधिक प्यार करती हूं कि उसमें कोई खामी दिखाई नहीं देती। सिवा इसके और क्या कह सकती हूं कि वह हमारे (नेहरू) परिवार की सच्ची बेटी है ! भारत की जनता ने हमारे परिवार को प्यार किया और वह इन्दिरा को भी खूव प्यार करती है।

इन्दिरा सुन्दरी है और उसका सव-कुछ—घरेलू वातावरण भी—सुन्दर होता है। काम से लदी रहने के वावजूद गृहिणी के कर्त्तव्य निभाने का वक्त वह निकाल ही लेती है—भोजन में क्या वनेगा, घर करीने से सजा हुआ है या नहीं, आदि वातें

तो देखती ही है, अपने नौकर-चाकरों के कुशल-क्षेम और प्रशिक्षण का ध्यान भी रखती है। फूलों को आकर्षक ढंग से सजाने का तो जैसे उसे वरदान ही मिला है। कपड़ों के मामले में उसकी रुचि बड़ी परिष्कृत है। अपनी सुन्दर साड़ियों और सुरुचिपूर्ण कश्मीरी शालों के परिधान में वह महीयसी महिला लगती है। वाशिंगटन के एक संवाददाता को यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ था कि एक राज्य की प्रमुख राजकीय भोज में सम्मिलित होने के पहले (१९६६ की बात है, इस भोज में राष्ट्रपति जानसन ने उपस्थित होकर इन्दिरा को गौरवान्वित किया था) केशविन्यास के लिए हेअर-ड्रेसर के यहां गई थी। वह कह उठा, "आखिर स्त्री है!" उसके खयाल से वह और क्या होती?

इन्दिरा स्त्री है और उसे अपने स्त्री होने पर गर्व है। हम भारतीय नारियां न तो सभा-सोसाइटियों और क्लबों पर जान देने वाली हैं और न पुरुषों के बराबरी के अधिकारों के लिए गला फाड़ने और गुत्थमगुत्था करने वाली ही हैं। हमारे लिए तो अपना घर, परिवार और बच्चे ही प्रमुख हैं और जो भी काम करना पड़ जाय, खुशी-खुशी करती हैं। इन्दिरा का हमेशा पहला कर्त्तव्य रहा है अपने दोनों बेटों की देख-भाल। जब वे इंग्लैंड में पढ़ते थे तो हमेशा नियम से उन्हें पत्र लिखती और लन्दन जाती तो ज्यादा-से-ज्यादा समय उन्हीं के साथ बिताती थी। राजीव कैम्ब्रिज में भर्ती हुआ, उसी कालेज में जहां उसके नाना जवाहर पढ़े थे; लेकिन संजय ने कालेज की शिक्षा से व्यावहारिक शिक्षा को ज्यादा अच्छा समझा। उसने इंग्लैंड के मोटर बनाने के एक कारखाने में कुछ साल रहकर

इस उद्योग का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया। अब दोनों बेटे भारत लौट आए हैं अब उन्हें घर पाकर मां बहुत प्रसन्न है। दोनों ही प्रियदर्शन, ज़िन्दादिल, मिलनसार और योग्य नौजवान हैं। घर एक बार फिर उनकी आवाज़ों और प्रसन्न ठहाकों से गूंजने लगा है।

न तो इन्दिरा ने अपने बेटों को राजनीति में आने के लिए प्रोत्साहित किया और न वे स्वयं आना चाहते हैं। एक भेंट में उसने कहा था कि वह तो यही चाहती है कि वे उद्योग में अपना योगदान करें—"प्रौद्योगिकी हमारे विकास के लिए बहुत आवश्यक है।"

मुझे आशा थी कि मेरा बड़ा बेटा हर्ष राजनीति में भाग लेगा और हमारे परिवार की परम्परा को जीवित रखेगा, लेकिन इस ओर उसका ज़रा भी ध्यान नहीं है। कभी मैं सोच में पड़ जाती हूं कि क्या नेहरू नाम हमारे देश के इतिहास के पन्नों में ही लिखा रह जायगा या भविष्य में इस वंश का कोई बालक-बालिका नये भारत के निर्माण में अपना योगदान देने वाला भी होगा ?

कुछ लोग हैं जो इन्दिरा को रूखे स्वभाव की, अकड़ वाली, घमण्डी और नकचढ़ी बताते हैं। वास्तव में वह सहृदय, स्नेहमयी और सहानुभूतिप्रवण है। बचपन में अकेले रहने से संकोच-भीरुता उसके स्वभाव का अंग बन गई और वह आज भी अपरिचितों में जल्दी से घुल-मिल नहीं पाती; इसीलिए लोग उसे अकड़ वाली समझने की भूल कर बैठते हैं। कुछ विदेशी लेखकों की दृष्टि में नेहरुओं के कथित अहंकारी स्वभाव का कारण हमारा ब्राह्मण होना है।

ब्राह्मण होता है गुरु, शिक्षक, ज्ञानी और पंडित। वह द्विज है, दो वार जन्मा हुआ; नौ या दस वरस की उम्र में आचार्य से उपवीत होकर वह ज्ञानार्जन का उद्यम शुरू करता है। और ज्ञानी अथवा विद्वान् सदैव विनयसम्पन्न होता है और होता है मानवता से ओत-प्रोत; उसमें केवल बौद्धिक आभिजात्य होता है, जन्म अथवा पद का नहीं। यदि पाश्चात्य लेखकों का यही अभिप्राय है तो हमें अपने इस आभिजात्य पर गर्व है।

एक बार द्वितीय महायुद्ध के समय मैं हाफकिन इन्स्टीच्यूट के रक्तकोप में रक्तदान के लिए गई थी। उस संस्था के अध्यक्ष चिकित्सा-क्षेत्र के जाने-माने अन्वेषक और चिकित्सक जनरल सोखे हमारे परिवार के मित्र थे। उन्होंने मज़ाक किया : "बड़े दुःख की बात है कृष्णा, तुम्हारा खून नीला नहीं, सबकी तरह लाल है।" मैंने जवाब दिया, "वाह, भला नीला क्यों होता? मैं ब्राह्मण जो हूं!"

इन्दिरा के बचपन और उसकी किशोरावस्था में जवाहर, जेल से बराबर पत्र लिख-लिख कर, मानवीय आदर्शों और सद्गुणों (मूल्यों) के प्रति उसमें आदर के भाव भरते रहे। पिता की वे शिक्षाएं उसके मन में सदा के लिए अंकित हो गई है। प्रधानमंत्री बनने के बाद एक भेंटकर्ता ने उससे पूछा था कि आज भारतीय जनता को अनुप्राणित करने वाले मानवीय मूल्य और आदर्श क्या हैं? जवाब में इन्दिरा ने कहा था :

"ये मूल्य और आदर्श हमारे इतिहास और जीवन में नूतन और पुरातन के संश्लेषण से उद्भूत हुए हैं। उदाहरण

के लिए, सहिष्णुता की पुरातन भावना और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को लीजिये। सम्भवतः इसीमें से शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का नया विचार प्रादुर्भूत हुआ है। फिर उन्नत जीवन—भौतिक ही नहीं, सांस्कृतिक और बौद्धिक भी (आध्यात्मिक)—के अधिकार के प्रति नई चेतना भी है, जो 'समाजवादी समाज-व्यवस्था' के रूप में मूर्त होती है और जिसे लाने के लिए हम वचनबद्ध हैं। यही चेतना हमारी विदेश-नीति में भी परिव्याप्त है और इस अति सरल और स्पष्ट विचार पर आधारित कि हम दूसरों के लिए भी शान्ति, स्वतंत्रता और प्रगति के वही अवसर चाहते हैं जिनकी हमें स्वयं अपने लिए अपेक्षा है।"

इन्दिरा जब पहली बार प्रधानमंत्री बनी तो उसके सामने उसके पिता अथवा लालबहादुर शास्त्री की अपेक्षा कहीं ज्यादा कठिनाइयां थीं। देश अकाल, मुद्रा-स्फीति और महंगाई के चंगुल में फंसा था और जनता अपनी नासमझी और जल्द-बाजी में इसके लिए सरकार को ही दोषी समझती थी। गैर-जिम्मेदार विरोधी दलों को इससे सत्ता हथियाने और लोगों को कानून तोड़कर अराजकता फैलाने के लिए उकसाने का अच्छा बहाना मिल गया। अठारह बरस की सुस्थिरता और व्यवस्थित प्रगति के बाद देश अव्यवस्था और विघटन के गर्त में जा गिरा। इन्दिरा को राजनीति और राजकाज का प्रशिक्षण तो ज़रूर मिला था, लेकिन जब देश की बागडोर उसके हाथ में सौंपी गई तो अनुभव की प्रौढ़ता से वह कोरी थी। संसदीय कार्य-व्यापार का समुचित ज्ञान भी उसे नहीं था। लेकिन अब वह अभ्यस्त हो गई है, और अपनी मंत्रिपरिषद्

एवं संसद् का प्रौढ़ राजनीतिज्ञ की तरह कुशलता से संचालन करती है। एक केन्द्रीय मंत्री के, जो पहले वाले दोनों प्रधान मंत्रियों के साथ काम कर चुके हैं, शब्दों में :

"प्रांजलता, भावाभिव्यक्ति की सारगर्भित शैली, अपनी मान्यता के अनुसार निर्णय करने का साहस, और स्पष्टवादिता आदि गुणों में वह अपने दोनों ही यशस्वी पूर्ववर्तियों से कहीं आगे है।"[3]

हम खामियों और खूबियों वाले साधारण मिट्टी के बने लोग हैं। इन्दिरा में, जैसाकि आलोचकों का कहना है, कुछ कमजोरियां हो सकती हैं, लेकिन उसमें साहस और निश्चयबल की कमी नहीं है। उसकी धमनियों में अपने पिता और दादा का रक्त प्रवाहित है—उन महापुरुषों का जो अपने देश और उसके महान् आदर्शों को समर्पित थे। इन्दिरा का जन्म इलाहाबाद—त्रिवेणी-संगम के प्राचीन पवित्र प्रयाग नगर में, उस गंगा नदी के किनारे हुआ जिसके साथ "भारतीय आर्य जाति की अनन्त प्राचीन स्मृतियां, उसकी आशाएं और आशंकाएं, उसके विजय-गान, उसके उत्थान और पतन की स्मृतियां गुंथी, हुई हैं।" और यही है इन्दिरा का उत्तराधिकार! गंगा की ही तरह वह भी भारत की है और भारत—हमारा भारत, हमारी जनता उसके प्राणों का प्राण, उसके हृदय की धड़कन है। जब तक वह जीवित रहेगी, जवाहर के इस प्रण को पूरा करने में मन-प्राण से लगी रहेगी :

"मैं अपने को विनम्रतापूर्वक भारत और यहां की जनता की सेवा में समर्पित करता हूं और अन्तिम क्षण तक इस महान्

कार्य में लगा रहूंगा, जिससे यह पुरातन देश विश्व में अपना उपयुक्त स्थान ग्रहण करे और विश्व-शान्ति एवं मानव-कल्याण के कार्यों को आगे बढ़ाने में स्वेच्छा से अपना पूरा सहयोग प्रदान करे।"

यह है भारत का वह दर्शन जो जवाहर का प्रेरणा-स्रोत रहा है—

"चित्त जहां भयशून्य, उच्च जहां शिर,*
ज्ञान जहां मुक्त, गृह-प्राचीर जहां निज
प्रांगण में वसुधा को रखती नहीं—
दिवस-रात खण्ड क्षुद्र कर,
वाक्य जहां हृदय के उत्समुख से उच्छ्वसित,
कर्मधारा जहां दौड़ती निर्बाध-गति,
देश-देश दिशा-दिशा अजस्र
करने को चरितार्थ सहस्रविध, मरुबालुराशि
जहां तुच्छ आचार की करती नहीं
ग्रास विचार का स्रोत:पथ—

---

* रविबाबू का मूल बंगला गीत इस प्रकार है—

चित्त येथा भयशून्य, उच्च येथा शिर,
ज्ञान येथा मुक्त, येथा गृहेर प्राचीर
आपन प्रांगण तले दिवसशर्वरी
वसुधारे राखे नाइ खण्ड क्षुद्र करि,
येथा वाक्य हृदयेर उत्समुख हते
उच्छ्वसिया उठे, येथा निर्वारित स्रोते
देशे-देशे दिशे-दिशे कर्मधारा धाय
अजस्र सहस्रविध चरितार्थताय,

पौरुष का किया नहीं शतधा
नित्य जहां तुम सर्व कर्म चिन्ता आनन्द के प्रणेता,
कर अपने हाथों दारुण आघात पितः,
भारत को उसी स्वर्ग में करो जागरित !"

(रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

येथा तुच्छ आचारेर मरुबालुराशि
विचारेर स्रोतःपथ फेले नाइ ग्रासि—
पौरुषेरे करे नि शतधा, नित्य येथा
तुमि सर्व कर्मचिन्ता आनन्देर नेता;
निज हस्ते निर्दय आघात करि पितः,
भारतेरे सेइ स्वर्गे करो जागरित !!

ताज़ा कलम

फरवरी १९६७ में आम चुनाव हुए। चुनाव-परिणामों में कांग्रेस की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा। संगठनात्मक कमजोरियां और नीति-सम्बन्धी संघर्ष उभर कर ऊपर आगए। आठ राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारें बनीं, जिससे केन्द्र और राज्य-सरकारों के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत जटिल हो गए। इन्दिरा ने गैर-कांग्रेसी सरकारों से भेद-भाव न बरतने की नीति अपनाई और केन्द्र तथा राज्य के मतभेदों और विवादों को जनतंत्र और गतिशील समाज में स्वाभाविक माना और विचार-विनिमय से उन्हें हल करने पर जोर दिया।

बंगाल इन्दिरा की चिन्ता का मुख्य विषय रहा। वहां का घेराव सारे देश में फैला और पहले बंगाल के मंत्रियों ने तथा बाद में केरल के संसद्-सदस्यों ने दिल्ली में क्रमशः खाद्य-मंत्री और प्रधान मंत्री का घेराव किया। बंगाल में कानून और व्यवस्था की स्थिति बहुत शोचनीय हो गई। नक्सलवाड़ी में आदिवासी जोतदारों द्वारा मार्क्सवादी-लेनिनवादी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में हिंसक उपद्रव शुरू हुए जो नक्सलवाद के नाम से प्रख्यात हुए।

जुलाई में जोर की वर्षा के कारण कई राज्यों में बाढ़ आई; इन्दिरा ने बाढ़ग्रस्त इलाकों का दौरा करके संकटग्रस्तों को राहत पहुंचाने की तात्कालिक व्यवस्था कराई।

दलबदल के कारण कांग्रेसी और गैरकांग्रेसी सरकारों की स्थिति डावांडोल बनी रही। मध्यप्रदेश की कांग्रेसी सरकार ३४ विधायकों द्वारा दलबदल करने के कारण खतरे में पड़ गई और इन्दिरा के प्रबल समर्थक द्वारकाप्रसाद मिश्र को इस्तीफा देना पड़ा। वहां संविद के नाम से जनसंघ, संसोपा तथा असन्तुष्ट कांग्रेसियों की मिली-जुली सरकार बनी।

तीन भाषा-फार्मूला के कारण विदेश-मंत्री छागला ने इस्तीफा दे दिया। देश में भाषाई दंगे हुए, परन्तु इन्दिरा ने नेहरूजी से भी

अधिक 'साहस का परिचय' देकर यह कानून बना दिया कि "अहिन्दी-भाषी राज्य जब तक हिन्दी को स्वीकार नहीं कर लेते, अंग्रेजी सम्पर्क-भाषा के रूप में चलती रहेगी।"

अपनी नई आर्थिक नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए इन्दिरा ने धनंजय रामचंद्र गाडगिल को उपाध्यक्ष नियुक्त कर आयोजना आयोग का इस तरह पुनःसंगठन किया कि मंत्रिगण उसके काम में दखलन्दाजी न कर सकें और आयोग परामर्शदाता के रूप में काम करे।

कांग्रेस-अध्यक्ष के चयन के मामले में इन्दिरा ने तत्कालीन अध्यक्ष कामराज की जगह निजलिंगप्पा को अपना उम्मीदवार घोषित कर दिया। इस मामले में उसने कामराज से कोई सलाह लेना उचित न समझा।

इस वर्ष इन्दिरा ने श्रीलंका और पूर्वी यूरोप के देशों की सद्भावना-यात्राएं कीं, जिनका उद्देश्य विएतनाम-युद्ध को बन्द करने का उपाय खोजना, पाकिस्तान से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखना, नये व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना और विश्व-शान्ति को दृढ़तर बनाना था।

सन् १९६८ का आरम्भ रूस और अमेरिका द्वारा प्रस्तावित परमाणु अस्त्रप्रसार-निरोधक सन्धि पर इन्दिरा द्वारा हस्ताक्षर करने से इन्कार करने से हुआ। उसने इस विषय में अपना मत व्यक्त किया कि इस सन्धि में परमाणु अस्त्र-सम्पन्न कुछ अन्य देश शरीक नहीं थे और परमाणुशक्ति-विहीन देशों की आशंकाओं को दूर किये बिना ही उनसे उसपर हस्ताक्षर करने के लिए कहा गया था।

इस वर्ष भी दल-बदल का दौर रहा। कांग्रेस की कार्यकारिणी के निर्वाचित स्थानों में इन्दिरा का, लेकिन नियुक्तियों के भरे जाने वाले स्थानों में सिंडीकेट का, बहुमत रहा। राज्य-सभा के द्विवार्षिक चुनावों में अवकाश ग्रहण करने वाले कांग्रेसी सदस्यों की जगह कांग्रेस सिर्फ ३४ स्थान प्राप्त कर सकी।

भाषाई दंगे बराबर होते रहे—मद्रास में हिन्दी-विरोधी दंगों ने भीषण रूप धारण कर लिया।

राजस्थान में अनावृष्टि के कारण मारवाड़ के बाड़मेर क्षेत्र में भयंकर अकाल पड़ा। हिंसक उपद्रव और तोड़फोड़ की घटनाएं बराबर

होती रहीं। समाचार-पत्रों के कर्मचारियों की ६० दिन की हड़ताल हुई और केन्द्रीय कर्मचारियों ने भी वेतन-वृद्धि के लिए हड़तालें और प्रदर्शन किये।

बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश और पंजाब—इन चार गैर-कांग्रेसी सरकारों का पतन हुआ और वहां राष्ट्रपति का शासन लागू हो गया। हरियाणा के मध्यावधि चुनाव में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत मिला। इन्दिरा ने विरोधी दलों के 'गैर-कांग्रेसवाद' को 'सिद्धान्तहीन समझौता-परस्ती' और 'जनतंत्र के लिए हानिप्रद' बताया।

मेरठ, इलाहाबाद और नागपुर में भीषण सांप्रदायिक दंगे हुए। इनकी रोकथाम के उपाय खोजने और सांप्रदायिकता को राष्ट्रीय जीवन से मिटाने के लिए श्रीनगर में राष्ट्रीय एकता परिषद् का, जो १९६३ में गठित होकर मृतप्राय हो गई थी, अधिवेशन बुलाया गया। इन्दिरा ने महसूस किया कि इसके लिए आदमी के मन को ही बदलना जरूरी है।

पाकिस्तान के साथ सम्बन्धों में तनाव बढ़ता ही रहा। चीन और पाकिस्तान मिलकर पूर्वी सीमान्त के मिजो विद्रोहियों को हथियारबन्द करने और सैनिक शिक्षा देने लगे। इधर इन्दिरा ने उत्तरपूर्वी क्षेत्रों की समस्या के हल के लिए मेघालय का अलग राज्य बनाने, मिजोरम को असम से पृथक करने और पूर्वी सीमान्त को अरुणाचल नाम देने पर विचार किया। मिजो विद्रोहियों का सख्ती से दमन शुरू हुआ।

विश्व न्यायाधिकरण ने 'राजनैतिक कारणों' से कच्छ के रन के विवाद के फैसले में कंजरकोट और छाड़बेट सहित ३३० वर्गमील भूमि पाकिस्तान को दे दी। विवाद को विश्व न्यायाधिकरण को सौंपने की शर्तों के अनुसार भारत को यह फैसला अपने प्रतिकूल होते हुए भी स्वीकार करना पड़ा। इस समय इन्दिरा ने अद्भुत धैर्य और संयम का परिचय दिया।

इस वर्ष इन्दिरा ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों और बाद में लातीनी अमेरिकी देशों सहित कैरोनियन द्वीप-समूह, अमेरिका, इंग्लैंड और पश्चिम जर्मनी की सदभावना-यात्राएं कीं।

१९६९ की जनवरी में इन्दिरा ने राष्ट्रमण्डल के २८ देशों के राष्ट्र-

पतियों एवं प्रधान मंत्रियों के सम्मेलन में विचार-विनिमय और मुलाकात के अवसर पाने के लिए लन्दन की यात्रा की।

फरवरी के मध्यावधि चुनावों में इन्दिरा ने देशव्यापी चुनाव-दौरा किया। बंगाल में कांग्रेस का शक्ति और कम हुई। पंजाब, बंगाल और बिहार में सबसे बड़ी पार्टी होते हुए भी अपने बूते सरकार बनाने की स्थिति में कांग्रेस नहीं रही।

सिंडीकेट से इन्दिरा के सैद्धान्तिक मतभेद और गहरे हो गए। सरकारी उद्योगों के प्रबन्ध को लेकर निजलिंगप्पा से इन्दिरा की फरीदाबाद में टक्कर हो गई।

मई १९६९ में राष्ट्रपति जाकिरहुसैन का हृदयगति रुक जाने से स्वर्गवास हो गया। अतः राष्ट्रपति पद के लिए कांग्रेसी उम्मीदवार के चयन को लेकर सिंडीकेट से विवाद उग्र हो उठा। यहां तक कि अगले वर्ष कांग्रेस के दो भागों में बंट गई। इन्दिरा की राय थी कि परम्परा से उपराष्ट्रपति का ही राष्ट्रपति-पद के लिए चयन किया जाता रहा है, इसलिए उपराष्ट्रपति और कार्यवाहक राष्ट्रपति व्यं० वा० गिरि को कांग्रेस अपना उम्मीदवार घोषित करे। इसके स्थान पर सिंडीकेट नीलम संजीव रेड्डी को, जो उस समय संसद के स्पीकर थे, उम्मीदवार बनाना चाहता था। सिंडीकेट-विरोधियों ने इसे इन्दिरा को अपदस्थ करने की चाल समझा।

इन्दिरा ने इस संघर्ष को व्यक्तियों का संघर्ष बनाने के बजाय नीतियों का संघर्ष बनाया और अपने आर्थिक प्रस्ताव को कांग्रेस की कार्यकारिणी से स्वीकृत कराकर सिंडीकेट को असमंजस में डाल दिया। सिंडीकेट ने प्रधानमंत्री इन्दिरा की इच्छा की परवाह किये बिना श्री गिरि के बजाय नीलम संजीव रेड्डी को कांग्रेस का उम्मीदवार घोषित किया।

इन्दिरा ने अपनी नई अर्थनीति को कार्यान्वित करने के लिए वित्त-विभाग मुरारजी देसाई से ले लिया। मुरारजी ने नाराज होकर इस्तीफा दे दिया, जिसे मंजूर करने के साथ-ही-साथ वित्तमंत्रालय उसने अपने पास ही रखा और १४ प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण भी कर दिया।

मुरारजी बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बजाय समाजीकरण के पक्षधर थे और इस व्यवस्था को चलने देना चाहते थे। पर देश की जनता राष्ट्रीयकरण चाहती थी। राष्ट्रीयकरण का अच्छा प्रभाव पड़ा और इन्दिरा के इस कदम का सारे देश में उत्साहपूर्वक समर्थन किया गया।

राष्ट्रपति-पद के चुनाव में भी इन्दिरा की ही जीत हुई। इस चुनाव में निजलिंगप्पा ने जनसंघ और स्वतंत्र पार्टी से गठबन्धन किया, फिर भी इन्दिरा के समर्थकों और प्रगतिशील दलों ने गिरि को मत देकर विजयी बनाया। यह सिंडीकेट के खिलाफ इन्दिरा की दूसरी बड़ी विजय थी।

सिंडीकेट के नेताओं ने बौखला कर पहले इन्दिरा के दो समर्थक जगजीवनराम और फखरुद्दीनअली अहमद पर और बाद में इन्दिरा पर भी अनुशासन की कार्रवाई कर डाली और तीनों को कांग्रेस से निकाल दिया। इसके बाद स्वर्णसिंह पर भी अनुशासन की कार्रवाई की गई। बदले में इन्दिरा गुट ने सुब्रह्मण्यम् को कांग्रेस का अन्तरिम अध्यक्ष नियुक्त किया। इस तरह सारा साल संगठन के स्तर पर नीतियों का युद्ध व्यक्तियों के इर्द-गिर्द चलता रहा।

पृथक् तैलंगाना की मांग को लेकर आन्ध्र प्रदेश में काफी लम्बा, उग्र और हिंसक आन्दोलन चला। इन्दिरा का रुख तैलंगाना के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रहा, लेकिन पृथक् तैलंगाना प्रदेश की मांग को उसने स्वीकार नहीं किया।

'सिद्धान्तहीन समझौता', जो सिर्फ कुर्सियों के लिए था, फिर रंग लाया और मध्यप्रदेश की संविद-सरकार का पतन हो गया। वहां पुनः कांग्रेस का मंत्रिमण्डल बना।

इन्दिरा को व्यथित करने वाली घटना अहमदाबाद का भीषण सांप्रदायिक दंगा था। उसने वहां का दौरा किया और सांप्रदायिकता के अभिशाप को देखकर विह्वल हो गई। उसने देशवासियों को सांप्रदायिक दंगों के प्रति चौकस रहने का आह्वान किया। दिल्ली में राष्ट्रीय एकता परिषद की बैठक करके दंगों के दमन के उपाय भी खोजे गए।

तमिलनाडु में सूखा पड़ा, आंध्र में तूफान और बाढ़ आई और उत्तर-

प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल में भी बाढ़ से बहुत हानि हुई। इन्दिरा ने सभी स्थानों का दौरा करके स्थिति का अध्ययन किया और राहत-कार्य तत्परता से आरम्भ करवाया।

बंगाल में पहले 'बंगाल बन्द' और उसके बाद चाय-बागान के दो लाख मजदूरों, कपड़ा मिलों के ५० हजार मजदूरों की हड़तालों और पटसन मिलों के बन्द हो जाने से स्थिति बराबर बिगड़ती गई।

सर्वोच्च न्यायालय ने बैंक राष्ट्रीयकरण अध्यादेश की कई धाराओं को अनुचित करार देकर स्थगन-आदेश दे दिया तो इसके लिए संसद् में विधेयक पेश करने के साथ ही इन्दिरा संविधान में आवश्यक संशोधनों की बात भी सोचने लगी।

उधर पड़ोसी पाकिस्तान की स्थिति बराबर बिगड़ती गई। अय्यूब के सैनिक शासन के खिलाफ हड़तालें और प्रदर्शन होने लगे। अन्त में अय्यूब को हटना पड़ा और जनरल याह्याखां वहां के सैनिक शासक बने। याह्या के शासनकाल में पूर्वी बंगाल में राजनैतिक हलचल उग्र हुई और वहां स्वायत्तता की मांग जोर पकड़ने लगी।

इसी वर्ष अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन, ईरान के शाह, रूमानिया के राष्ट्रपति, बुलगारिया एवं न्यूजीलैंड के प्रधानमंत्री तथा फिलीपीन और इण्डोनेशिया के विदेशमंत्री भारत आये। इन्दिरा ने अफगानिस्तान, जापान, इण्डोनेशिया और बर्मा की सद्भावना-यात्राएं कीं। इन देशों के साथ भारत के व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध दृढ़ हुए।

सन् १९७० में कांग्रेस का पूरी तरह विभाजन हो गया था। इन्दिरा-समर्थक गुट 'नई कांग्रेस' या 'सत्ता कांग्रेस' कहलाने लगा और सिंडीकेट वाली कांग्रेस 'संगठन कांग्रेस' के नाम से बोली जाने लगी। १९६९ के दिसम्बर महीने में दोनों कांग्रेसों के अलग-अलग अधिवेशन हुए—संगठन कांग्रेस का गुजरात की नई राजधानी गांधीनगर में और सत्ता कांग्रेस का बम्बई में। दोनों के प्रस्तावों से साफ मालूम हो गया कि नीति-सम्बन्धी मतभेदों के कारण दोनों का साथ रहकर काम करना किसी भी तरह सम्भव नहीं था। सत्ता कांग्रेस ने सुब्रह्मण्यम के स्थान पर जगजीवनराम को अपना स्थायी अध्यक्ष नियुक्त किया और वह केन्द्र में

खाद्य-मंत्री के साथ-साथ इस पद को भी संभाले रहे।

८ जनवरी को संसद में राजाओं के विशेषाधिकारों और प्रिवीपर्स की समाप्ति की घोषणा की गई। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के अध्यादेश की तरह बाद में इसकी वैधता को भी चुनौती दी गई। लोकसभा में यह विधेयक पारित हो गया, लेकिन राज्य सभा में सिर्फ १ मत कम होने से यह पारित न हो सका, तब ७ सितम्बर को राष्ट्रपति ने अध्यादेश के द्वारा नरेशों की मान्यता को रद्द किया। इन्दिरा ने इस तथ्य को तीव्रता से अनुभव किया कि संसद के सभी सदनों में बहुमत हुए बिना नये आर्थिक सुधारों को कार्यान्वित कर पाना मुश्किल ही होगा।

वित्त-मंत्री की हैसियत से इन्दिरा ने १९७०-७१ का जो बजट संसद में पेश किया वह अपने सभी पूर्ववर्ती बजटों से भिन्न, प्रगतिशील और सामान्य जन की आकांक्षा को बहुत हद तक पूरा करने वाला था। इन्दिरा ने अपने उस बजट को "सामाजिक न्याय और आर्थिक विकास का समन्वय करने वाला बजट" कहा। उसमें अकाल-पीड़ित रहने वाले क्षेत्रों में निर्माण कार्य, सूखे से राहत, शहरी आवास सुधारने के लिए नगर निवास निगम, दैवी विपत्तियों से बचाव, बच्चों को पोषक आहार, आदिम जातीय विकास, खेती पर शोधकार्य में वृद्धि आदि कई लोकोपकारी मदों का समावेश कर उनके लिए व्यय का प्रावधान किया गया था।

नई अर्थनीति के अन्तर्गत इन्दिरा ने हास्पेट, सेलम और विशाखापत्तन-जैसे पिछड़े हुए क्षेत्रों में नये इस्पात-कारखाने खोलने की घोषणा की। देश के ३३ लाख से अधिक शिक्षित बेरोजगारों की समस्या के समाधान के लिए केन्द्र द्वारा एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त की गई। नई कांग्रेस की महासमिति ने इन्दिरा के नेतृत्व में ग्रामीण क्षेत्रों की बेरोजगारी खत्म करने के लिए परती जमीन बांटने सम्बन्धी प्रस्ताव पारित कर इस काम के लिए १९७१ तक की अवधि निर्धारित कर दी।

पाकिस्तान की घटनाओं से चिन्तित होकर इन्दिरा ने ताशकन्द-घोषणा के सन्दर्भ में सोवियत संघ को और पाकिस्तान को पत्र लिखे। इस वर्ष पानी के सवाल को लेकर पकिस्तान से विवाद इतना तीव्र हो गया कि भारत ने उसे पानी देना ही बन्द कर दिया। लेकिन जब नवं-

बर के महीने में पूर्वी पाकिस्तान में तूफान आया तो इन्दिरा द्वारा तूफानग्रस्तों की मदद के लिए एक करोड़ रुपये देने की घोषणा की गई। भारत तो हेलिकोप्टरों द्वारा तूफानपीड़ितों को बचाने में सहायता करना चाहता था, परन्तु याह्याखां को यह स्वीकार न हुआ। ८ दिसम्बर को पाकिस्तान में आम चुनाव हुए और उनमें शेख मुजीबुर्रहमान की अवामी लीग को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ।

उत्तरप्रदेश और आन्ध्र में भारी वर्षा से नुकसान हुआ। इन्दिरा ने बाढ़ग्रस्त क्षेत्रों का दौरा किया।

मई में बम्बई के निकट भिवंडी और चन्द्रनगर में लोमहर्षक साम्प्रदायिक दंगे हुए। इन्दिरा ने फौरन दंगा-पीड़ित क्षेत्रों का दौरा कर संकटग्रस्तों को आश्वासन दिया और जनसंघ पर दंगे उकसाने का खुला आरोप लगाया। दंगों का सफलता से सामना करने के लिए उसने राष्ट्रीय एकता परिषद् की बैठक बुलाई और बैठक में दोनों कांग्रेसों और सभी गैरसम्प्रदायवादी दलों, केन्द्रीय मन्त्रियों और कुछ राज्यों के मुख्य-मन्त्रियों को आमन्त्रित कर कहा कि "हम यहां सामाजिक हिंसा का सामना करने को एकत्र हुए हैं।" राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की तीव्र भर्त्सना की गई और उस पर तथा जमैयत इस्लामी पर प्रतिबन्ध लगाने की मांग सभासदों ने की। बाद में कांग्रेस महासमिति में भी इन्दिरा द्वारा प्रतिक्रियावादी व उग्रवादी संगठनों के विरुद्ध उग्र संघर्ष का आह्वान किया गया।

इसी वर्ष औद्योगिक शक्ति-सन्तुलन के लिए एकाधिकारिक व्यापारिक आचरण अधिनियम बनाया गया, जिससे उद्योगों का सन्तुलित विकास हो सके।

चण्डीगढ़ के बंटवारे के प्रश्न पर हरियाणा में जबर्दस्त आन्दोलन छिड़ा। इन्दिरा ने बड़ी सूझबूझ से इस समस्या को निपटाया—फाज़िल्का सहित ११८ गांव हरियाणा को और चण्डीगढ़ पंजाब को दिया गया। बाद में इस फैसले के खिलाफ दोनों राज्यों में उपद्रव हुए तो इन्दिरा ने दृढ़ता और सख्ती से उनका सामना करने के आदेश दिये।

इस वर्ष बंगाल, केरल और उत्तरप्रदेश में राष्ट्रपति-शासन लागू

हुआ; और केरल के मध्यावधि चुनाव में वहां के लघुमोर्चे और सत्ता कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। मेघालय को एक पूरे राज्य का दर्जा देने की घोषणा भी इन्दिरा ने इसी वर्ष लोकसभा में की।

राज्य-सभा के द्विवार्षिक चुनावों में नई कांग्रेस की स्थिति में काफी गिरावट आ गई। इस कारण भी इन्दिरा मध्यावधि चुनाव की बात सोचने लगी।

१७ मार्च को 'बंगाल बन्द' के सिलसिले में कई लोग मारे गए और १६ अप्रैल को कलकत्ता-विश्वविद्यालय में नक्सलवादियों ने जमकर उत्पात किया। इन घटनाओं ने इन्दिरा को बंगाल की अस्थिर और आतंकवादी राजनीति का स्थायी हल खोजने के लिए प्रेरित किया।

२६ दिसम्बर को अन्ततः इन्दिरा ने मध्यावधि चुनाव कराने की घोषणा कर दी। सभी दल चुनावी-समझौतों में लग गए। संगठन कांग्रेस, स्वतन्त्र दल और जनसंघ ने नई कांग्रेस को पराजित करने के लिए 'महा-सहयोग' स्थापित किया। आखिर मुरारजी भाई, पाटिल, निजलिंगप्पा आदि सत्ता प्राप्त करने के बारे में साम्प्रदायिक और प्रतिक्रियावादी तत्त्वों की गोद में जाकर बैठ गए। इन लोगों के बारे में इन्दिरा का राज-नैतिक विश्लेषण सही साबित हुआ।

इस वर्ष इन्दिरा मारीशस और लुसाका गई। मारीशस को छोटा भारत कहा जाता है। इन्दिरा के वहां जाने से दोनों देशों के बीच आर्थिक और राजनैतिक-सांस्कृतिक सहयोग का श्रीगणेश हुआ। लुसाका में गुट-निरपेक्ष देशों के सम्मेलन में इन्दिरा ने अमेरिका से अपील की कि वह हिन्दचीन से अपनी सेनाएं फौरन हटा ले। इसी वर्ष न्यूयार्क में संयुक्त राष्ट्रसंघ की रजतजयन्ती में भाग लेते हुए इन्दिरा ने भारत की गुट-निरपेक्षता को वर्तमान के सन्दर्भ में व्याख्यायित किया।

इस वर्ष के विदेशी अतिथियों में बेल्जियम के सम्राट, पश्चिम जर्मनी के विदेशमन्त्री, पोलैंड के राष्ट्रपति और जापान के विदेश-मन्त्री आदि प्रमुख हैं।

कांग्रेस में बैठी हुई गन्दगी और देश के दूषित राजनैतिक वातावरण को स्वच्छ बनाने के जिस भगीरथ कार्य में इन्दिरा जुटी हुई थी, उसके

शुभ परिणाम यों तो १९६९ से ही सामने आने लगे थे, लेकिन १९७१ के मध्यावधि चुनाव-परिणामों ने गन्दगी को काफी हद तक साफ कर दिया। जब राज्यसभा में प्रिवीपर्स समाप्त करने का विधेयक पराजित हो गया और राष्ट्रपति ने अध्यादेश के द्वारा उसे लागू किया तो राजाओं ने सर्वोच्च न्यायालय के दरवाज़े खटखटाये और वहां उन्हें स्थगन-आदेश मिल गया। इससे इन्दिरा ने दो निष्कर्ष निकाले : एक तो मध्यावधि चुनाव के द्वारा संसद में ऐसी स्थिति निर्मित की जाए कि कोई भी लोकोपकारी विधेयक आवश्यक बहुमत के अभाव में परास्त न होने पाए और दूसरे संविधान में इस तरह संशोधन कर दिया जाए कि इस तरह के विधेयकों की वैधता को कानूनी चुनौती न दी जा सके।

२९ दिसम्बर १९७० को मध्यावधि चुनाव की घोषणा करने के पश्चात् १३ जनवरी १९७१ से ५ मार्च १९७१ तक वह निरन्तर चुनाव-प्रचार में लगी रही। इस अवधि में उसने वायुमार्ग से ३० हज़ार और स्थलमार्ग से ३ हज़ार मील की यात्रा की। चार सौ से अधिक सभाओं में भाषण दिये, जिनका औसत प्रतिदिन १४ का बैठता है। उन दिनों वह प्रतिदिन १८ घण्टे से भी अधिक काम करती रही।

इस बार नई कांग्रेस का मुकाबला संगठन कांग्रेस, जनसंघ, स्वतन्त्र और संसोपा के 'महासहयोग' से था। इस संयुक्त गठबन्धन ने ५४३ उम्मीदवार मैदान में उतारे थे। इन्दिरा ने सिर्फ ४४२ उम्मीदवार खड़े किये, जिनमें २५७ बिलकुल नये थे और आधे से अधिक ४० वर्ष से कम उम्र के थे। श्रीमती गांधी को ३५० स्थान मिले, जो कांग्रेस-विभाजन के समय की उसकी स्थिति से १२० अधिक थे। 'महा सहयोग' को मुंह की खानी पड़ी। इन्दिरा की विजय का मुख्य कारण उसकी प्रगतिशील अर्थनीति थी।

इन्दिरा के नये मन्त्रिमण्डल में चह्वाण के पास वित्त-विभाग, फखरुद्दीन अली अहमद के पास खाद्य और कृषि, जगजीवनराम के पास सुरक्षा और स्वर्णसिंह के पास विदेश-विभाग थे। देश को लग रहा था कि समाजवाद का सपना अब जल्दी ही सफल होगा। लेकिन पाकिस्तान एक बड़ी बाधा बनकर आ खड़ा हुआ।

झगड़े का आभास तो पहले से ही हो रहा था। दो तस्कर एक भारतीय यात्री विमान उड़ाकर पाकिस्तान ले गए, उसे वहां जला दिया और पाकिस्तान सरकार ने उन तस्करों को लौटाने से इनकार कर दिया। सारे देश में गुस्से की लहर दौड़ गई, लेकिन इन्दिरा ने अद्भुत संयम से काम लिया।

पाकिस्तान के आम चुनाव में पूर्वी पाकिस्तान की राष्ट्रीय असेम्बली की सभी ६ जगहों पर मुजीबुर्रहमान की अवामी लीग की विजय हुई। इससे घबराकर राष्ट्रपति याह्या खां ने ढाका में शुरू होने वाले राष्ट्रीय असेम्बली के अधिवेशन को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया। विरोध में शेख मुजीबुर्रहमान ने शान्तिपूर्ण असहयोग आन्दोलन शुरू किया तो उन्हें गिरफ्तार कर इस्लामाबाद ले गए और फौजी अदालत में मुकदमा चलाकर फांसी की सजा सुना दी गई। साथ ही पूर्व बंगाल की जनता पर पूरे वेग से दमन-चक्र चालू कर दिया गया। प्राणभय से आतंकित लोग शरण की खोज में भारत आने लगे और देखते-देखते साढ़े सात करोड़ आबादी वाले देश से लगभग एक करोड़ शरणार्थी भारत में चले आए। इन शरणार्थियों ने संकटग्रस्त भारत की समस्याओं को और विषम कर दिया। लेकिन इन्दिरा ने शरणार्थी-समस्या के प्रति पूर्णतः मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाया और उनकी हर सम्भव मदद की। साथ ही संयुक्त राष्ट्र संघ और दुनिया के सभी देशों से पूर्व बंगाल के नृशंस हत्या-काण्ड को बन्द करवाने तथा मुजीब के प्राण बचाने की अपीलें कीं। कई मंत्री इस कार्य के लिए विश्व की प्रमुख राजधानियों में भेजे गए और स्वयं इन्दिरा भी अमरीका आदि बड़े देशों के शासकों से भेंट करने के लिए गईं। लेकिन कोई नतीजा नहीं निकला। उलटे अमरीका ने भारत को दी जाने वाली सहायता रोककर पाकिस्तान को ज्यादा मात्रा में हथियार देना शुरू कर दिया। अमेरिका की यह कार्रवाई देश की सुरक्षा के लिए हानिप्रद होते देख इन्दिरा ने फौरन रूस के साथ बीस-वर्षीय प्रतिरक्षा-सन्धि करके भारत की स्थिति मजबूत कर ली। उधर पूर्व बंगाल की जनता जो भी हथियार मिला उसे लेकर आततायियों के खिलाफ उठ खड़ी हुई। भारत की सहानुभूति उनके साथ थी ही।

पाकिस्तानी शासकों ने अपने अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप का आरोप भारत पर लगाया और बाक़ायदा लड़ाई छेड़ दी। चौदह-दिवसीय युद्ध में पाकिस्तान की हार हुई, उसके एक लाख से अधिक सैनिकों ने आत्म-समर्पण किया, याह्या खां का तख्ता उलट गया, मुजीब रिहा हुए और भारत को कृतज्ञ, गहरे मित्र और सहयोगी समर्थक एक नये बांगला देश का उदय हुआ और पाकिस्तान आधा रह गया।

इस विजय ने, इन्दिरा और भारत, दोनों की ही प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा दिये !

मार्च ७१ से लेकर दिसम्बर ७१ तक इन्दिरा केवल बांगला देश के मसले में ही नहीं उलझी रही, इस अवधि में उसने चार नये राज्यों का निर्माण किया—हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, मेघालय और त्रिपुरा। दो स्वायत्त प्रदेश भी बनाये : अरुणाचल प्रदेश और मिजोरम। तीन संवैधानिक संशोधन विधयेक पारित किए गए—२४वें संशोधन से भारतीय-जनता को संविधान के संशोधन का अधिकार प्राप्त हुआ; २५वें संशोधन से राष्ट्रीय हित के लिए सम्पत्ति-अधिग्रहण किये जाने पर मुआवज़ा देने की बाध्यता खत्म की गई; और २६वें संशोधन के द्वारा भूतपूर्व राजाओं के विशेषाधिकारों, प्रिवीपर्सों आदि को समाप्त किया गया।

इन्दिरा-शासन का यह वर्ष इसलिए भी उल्लेखनीय है कि प्रादेशिक स्तर पर जो पुरातनपंथी सत्ता पर अधिकार किये बैठे थे, उन्हें भी इन्दिरा ने एक-एक करके हटा दिया।

२६ जनवरी १९७२ को इन्दिरा देश के सर्वोच्च अलंकरण 'भारत-रत्न' से विभूषित की गई। अपनी राजनैतिक सूझ-बूझ, संगठन-कौशल, दूरदर्शिता, लोगों को परखने की अद्भुत क्षमता, पैनी दृष्टि, ऊर्जस्विता, अदम्य उत्साह, अडिग आत्मविश्वास और गहन मानव प्रेम आदि गुणों के कारण कुछ ही वर्षों में इन्दिरा भारत की सर्वमान्य जननेता ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के राजनेता के रूप में भी प्रतिष्ठित हो गई।

१९७२ के मार्च में इन्दिरा ने मद्रास, उत्तरप्रदेश आदि कुछ प्रदेशों को छोड़कर सारे प्रदेशों में आम चुनाव कराये। उसमें उसने दो नारे दिए—'आत्म-निर्भरता' और 'गरीबी हटाओ'। चुनाव जीतने के लिए

उसने दो काम किये—एक-एक उम्मीदवार का उसकी योग्यता के आधार पर स्वयं चयन किया और जहां भी आवश्यक समझा, दक्षिण-पंथी कम्युनिस्ट पार्टी से चुनावी ताल-मेल किया। कम्युनिस्टों से ताल-मेल करके उसने कांग्रेस पर लगे इस कलंक को, कि वह पूंजीपतियों अथवा धनाधीशों की पार्टी है, धो डाला और देश की युवा-शक्ति के लिए उसके द्वार उन्मुक्त कर दिये।

१९७१ के मध्यावधि-चुनावों की तरह १९७२ के आम चुनावों के परिणाम भी सबको ही चौंकानेवाले साबित हुए। पश्चिम बंगाल की विधान-सभा में इन्दिरा की कांग्रेस को, २१६ स्थान मिले, जो १९७१ के मध्यावधि चुनाव के मुकाबले दुगुने हैं। मार्क्सवादियों को सिर्फ १४ स्थान मिले और १०० स्थान उनके हाथ से निकल गए।

इन चुनावों में कुल २५२९ स्थानों में से सत्ता कांग्रेस को १९२६ स्थान प्राप्त हुए। तीनों दक्षिणपन्थी दलों का सफाया हो गया—संगठन कांग्रेस के ८६८ उम्मीदवारों में से ८८ जीते, स्वतंत्र के ३४६ में से सिर्फ १६ और जनसंघ के १२२९ में से केवल १०५। समाजवादी ६४४ स्थानों पर लड़े मगर केवल ५७ स्थान पा सके!

मार्च में इन्दिरा ने बांगला देश के साथ पच्चीसवर्षीय 'मैत्री, सहकारिता और शान्ति की सन्धि' की, जो 'समानता, पारस्परिक लाभ और राष्ट्रीय सिद्धान्तों' पर आधारित है।

३१ मई १९७२ तक के इन्दिरा के शासन-काल की दो और उल्लेखनीय घटनाएं हैं—मध्यप्रदेश के डाकुओं का आत्मसमर्पण, और श्रमिक एकता के लिए गांधीवादियों के राष्ट्रीय मजदूर संघ, कम्युनिस्टों के ट्रेड यूनियन कांग्रेस और सोशलिस्टों के हिन्दू पंचायत का पारस्परिक समझौता, शहरी सम्पत्ति की सीमा बांधने और कृषिभूमि की अधिकतम सीमा तय करने का काम भी राज्य-सरकारों को सौंपा गया है।

पाकिस्तान के साथ शिखर-वार्त्ता की बातचीत पहले से चल रही थी। २७ जून को वह शिखर-वार्त्ता में भाग लेने शिमला गई। इस काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना भारत और पाकिस्तान के बीच वह समझौता है, जिस पर २ जुलाई को इंदिरा तथा पाकिस्तान के राष्ट्रपति जुल्फिकार अली भुट्टो ने

हस्ताक्षर किये। इस समझौते की मुख्य बातें ये थीं:

१. दोनों देशों के बीच संघर्ष और तनाव को खत्म किया जायगा। सभी मामले दोनों पक्ष मिलकर तय करेंगे। समस्याओं के हल के लिए बल का प्रयोग नहीं किया जायगा। २. दोनों देशों के बीच स्थायी शान्ति के लिए कोशिश की जायगी। ३. कोई भी ऐसी उत्तेजना पैदा करने वाली कार्रवाई नहीं की जायगी, जिससे दोनों देशों के संबंध खराब हों। ४. संघर्ष के बुनियादी कारणों का हल शान्तिपूर्ण तरीकों से किया जायगा। ५. एक-दूसरे की प्रभुसत्ता का सम्मान किया जायगा। ६. भारत और पाकिस्तान की फौजें अंतर्राष्ट्रीय सीमा के दोनों ओर वापस बुला ली जायंगी। ७. जम्मू और काश्मीर में १७ दिसम्बर १९७१ को युद्धविराम के समय दोनों देशों की फौजें जिस स्थान पर थीं, वहीं रहेंगी। दूसरे शब्दों में जम्मू-काश्मीर में वास्तविक नियंत्रण की रेखा को मान्यता दी जायगी। ८. जल, थल और नभ मार्गों पर यातायात और परिवहन फिर से शुरू किया जायगा। ९. वाणिज्य-व्यापार, संस्कृति और विज्ञान के क्षेत्रों में सहयोग और आदान-प्रदान किया जायगा। १०. दोनों देशों की सुविधा के अनुसार राष्ट्रपति भुट्टो तथा प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी फिर मुलाकात करेंगी। ११. इस बीच युद्धबंदियों की अदला-बदली, जम्मू और काश्मीर की समस्या के स्थायी हल तथा दोनों देशों के बीच स्थायी शान्ति के लिए कोशिशें जारी रहेंगी।

इस समझौते की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उससे तीसरी सत्ता के हस्तक्षेप का रास्ता बंद हो गया।

समझौते का भारत में कुछ दलों ने विरोध किया। जनसंघ ने उसके विरोध में प्रदर्शन भी किया, लेकिन भारत के राष्ट्रपति तथा लोकसभा ने और पाकिस्तान की राष्ट्रीय एसेंबली ने उस पर अपनी मुहर लगा दी।

इंदिरा-शासन की अन्य घटनाओं में भारतीय स्वतंत्रता की रजत-जयंती का देश में मनाया जाना है। भारत १५ अगस्त १९४७ को आज़ाद हुआ था। स्वराज्य मिले पच्चीस वर्ष हो गये। इस बीच जो हुआ और जो नहीं हुआ, उसका लेखा-जोखा लेना उचित ही था। १५ अगस्त को लाल किले पर झंडा फहराते हुए इंदिरा ने अत्यंत प्रेरणादायक संदेश दिया।

—श्यामू संन्यासी

सन्दर्भ-साहित्य

अध्याय ३

१. जवाहरलाल नेहरू, टूवर्ड फ्रीडम (न्यूयार्क; जान डे कं०, १९४२)

अध्याय ४

१. ज० नेहरू, वही
२. आर्नाल्ड माइकेलिस, एन इण्टरव्यू विद इन्दिरा गांधी (मेक्कालस, अप्रैल, १९६६)
३. कृष्णा नेहरू हठीसिंह, वी नेहरूज़ (न्यूयार्क; होल्ट रिनेहार्ट एण्ड विन्स्टन, १९६७)

अध्याय ५

१. ज० नेहरू, टुवर्ड फ्रीडम
२. बी० आर० नन्दा, द नेहरूज़ (न्यूयार्क : जान डे कं०, १९६३)
३. कृष्णा नेहरू हठीसिंग, वी नेहरूज़
४. ज० नेहरू, टुवर्ड फ्रीडम
५. बी० आर० नन्दा, द नेहरूज़
६. आर्नाल्ड माइकेलिस, एन इंटरव्यू विद इन्दिरा गांधी
७. ज० नेहरू, टुवर्ड फ्रीडम
८. ज० नेहरू, विश्व-इतिहास की झलक (सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली)

अध्याय ६

१. ज० नेहरू, विश्व-इतिहास की झलक
२. वही
३. वही
४. ज० नेहरू, टुवर्ड फ्रीडम
५. ज० नेहरू, विश्व-इतिहास की झलक

६. कृष्णा नेहरू हठीसिंह, 'कोई शिकायत नहीं' (सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली)
७. ज० नेहरू, टुवर्ड फ्रीडम
८. कृ० ने० हठीसिंग, वी नेहरूज़

अध्याय ७

१. ज० नेहरू, टुवर्ड फ्रीडम
२. ज० नेहरू, हिन्दुस्तान की कहानी (सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली)
३. वही
४. वही

अध्याय ८

१. ज० नेहरू, 'कुछ पुरानी चिट्ठियां' (सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली)
२. मुहम्मद यूनुस : फ्रंटियर स्पीक्स
३. ज० नेहरू, विश्व-इतिहास की झलक
४. ज० नेहरू, कुछ पुरानी चिट्ठियां

अध्याय १०

१. आर्नाल्ड माइकेलिस, एन इण्टरव्यू विद इन्दिरा गांधी
२. विजयालक्ष्मी पण्डित, प्रिज़न डेज़

अध्याय १२

१. कृ० ने० हठीसिंग, वी नेहरूज़

अध्याय १४

१. 'राष्ट्रपिता' (सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली)

अध्याय १५

१. कृ० ने० हठीसिंग, वी नेहरूज़
२. वही
३. डोरोथी नार्मन (संपादित), नेहरू, दि फर्स्ट सिक्स्टी इयर्स (न्यूयार्क : जान डे कं०, १९६५), भाग २

अध्याय १६

१. बेट्टी फ्राइडेन, हाउ मिसेज़ गांधी शेटर्ड 'दि फेमीनिन मिस्टिक' (लेडीज़ होम जर्नल, मई १९६६)
२. वही

अध्याय १९

१. डोरोथी नार्मन (सम्पादित), नेहरू, दि फर्स्ट सिक्स्टी इयर्स
२. वही

अध्याय २०

१. कृ० ने० हठीसिंग, वी नेहरूज़

अध्याय २२

१. ज० नेहरू, हिन्दुस्तान की कहानी
२. वही
३. विलियम एटउड, 'ए फ्रैंक टाक विद ए पावरफुल वुमन', ('लुक', अप्रैल ३०, १९६८)

अध्याय २५

१. आर्नाल्ड माइकेलिस, एन इण्टरव्यू विद इन्दिरा गांधी
२. राबर्ट हार्डी एंड्रूज, ए लैम्प फार इंडिया (ईंगलवुड क्लिफ्स, एन० जे० प्रेंटिस हाल, १९६०)

अध्याय २६

१. आर्नाल्ड माइकेलिस, एन इण्टरव्यू विद इन्दिरा गांधी
२. ख्वाजा अ० अब्बास, इन्दिरा गांधी (बम्बई, पापुलर प्रकाशन, १९६६)
३. वही।

निर्देशिका